पूज्य श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

श्रीहरिः

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज की जो पुस्तकें अबतक छपी थीं, वे अब दुष्प्राप्य हैं। इधर मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक 'सन्मार्ग' एवं साप्ताहिक 'सिद्धान्त' में उनके विद्वत्तापूर्ण लेख तथा भाषण बराबर निकलते रहे हैं। 'श्रीधर्मसङ्घशिक्षामण्डल' ने यह निश्चय किया है कि वे लेख तथा भाषण विषयानुसार पुस्तकरूप में प्रकाशित किये जांय और उन्हीं में पिछले ग्रन्थों की सामग्री का भी समावेश कर लिया जाय। श्रीस्वामीजी महाराज के अतिरिक्त अन्य महात्माओं के लेख भी समय समय पर प्रकाशित करने का विचार किया जा रहा है। लौकिक पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस के साधन में यह ग्रन्थमाला बड़ी सहायक होगी। स्थायी ग्राहक बनकर लाभ उठाइये।

काशी
वैशाख शुक्ल १५
वि० सं० २००६

मन्त्री—
श्रीधर्मसङ्घशिक्षामण्डल

विषयसूची

प्राणी का लक्ष्य

संसार के समस्त जीवों का आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन से वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा तरङ्ग का समुद्र से। दोनों की समता है, विषमता नहीं। पर अज्ञ प्राणी इसे नहीं समझते। जीवरूप कान्ता का परब्रह्मरूप कान्त के साथ नित्य सम्बन्ध है। जीव को परब्रह्म की ओर जाने की स्वतः प्रवृत्ति जब होती है, तब वह शालग्राम आदि मूर्तियों को सामने रखकर भगवान् का ध्यान करता है। मूर्ति इसलिए रखी जाती है कि साधक का ध्यान परब्रह्मबोधक मूर्ति से हटकर कहीं अन्यत्र विचरण न करे। ईश्वरबुद्धि से शालग्राम का अर्चन बनता है। सात्विकी दृष्टिवाले तो उस अर्चन वन्दन में सफल होकर ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेते हैं, पर जिन की दृष्टि लौकिकी है, वे लोकमाया में, पुत्र, कलत्र, धन आदि के चक्कर में फँसकर मूल वस्तु निर्विशेष परब्रह्म से बहुत दूर रहते हैं। स्वारसिकी प्रवृत्ति ईश्वर के सान्निध्य में पहुँचाने में जीव को बड़ी सहायता करती है, विधि-निषेधात्मक शास्त्रबद्ध प्रवृत्ति कुछ और ढङ्ग की होती है। स्वारसीकी प्रवृत्ति सुदृढ़ प्रेम की जननी है। प्राणियों का सहज अनुराग जैसे संसार के अन्य अन्य विषयों की ओर लगा रहता है, वैसे ही यदि उनका परब्रह्म के साथ स्वारसिकी प्रवृत्ति द्वारा सहज अनुराग होने लगे, तो फिर कहना ही क्या है ? शास्त्रतन्त्रता की तिलाञ्जलि देकर स्वयं उच्छृङ्खल बनना भी ठीक नहीं है। लौकिक प्राकृत पदार्थों में स्वारसिकी प्रवृत्ति है स्वाभाविक, पर वह बड़ी ही अनर्थकर होती है।

यही परब्रह्म परमात्मा में बड़े प्रयत्न से प्राप्त होती है। अभ्यास के अद्भुत परिपाक और बड़े प्रयत्न से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य परब्रह्म में जीव की क्रीड़ा होती है। यह कोई सरल काम नहीं है। इसके लिए सब से पहले श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। विषयी एवं अविवेकी पुरुष को जिस प्रकार विषय में आनन्द आता है, वैसे ही महानुभावों को शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा में आता है। ऐसे मनुष्य सचमुच बड़े भाग्यशाली हैं। ईश्वरप्राप्ति के अभ्यास में क्षणमात्र की भी मनोविकृति मनुष्य को वहाँतक पहुँचने में बाधक सिद्ध होती है। जैसी प्रवृत्ति जीव की विषयों की ओर हठात् होती है, वैसी ही खींच हठात् भगवान् में होनी चाहिए। बिना प्रयत्न किये मन विषयों से हटकर हठात् परब्रह्म की ओर जाने लगे, यही वास्तव में भगवान् के प्रति प्रीति है। यही अनन्त मुक्तों, अनन्त सिद्धों में परम आदरणीय सिद्धि है। अन्तरङ्ग प्राणियों को यह बात आसानी के साथ समझ में आ जायगी, पर बहिरङ्ग प्राणियों को नहीं।

अन्तरङ्गता, शास्त्रों तथा वेदों का घर बैठे अपने आप अध्ययन करने से नहीं, सद्गुरु द्वारा प्राप्त होती है। कोई मनुष्य समुद्र में जाय, तो उसे सिवा खारे जल के मीठा थोड़े ही मिलेगा? मधुरता का स्वाद उसे उसमें तबतक न मिलेगा, जबतक उसी जल को मेघ लाकर न दे। इसी प्रकार जिनको व्याकरण का भी साधारण ज्ञान नहीं, वे यदि 'भागवत', 'उपनिषद्' जैसे गम्भीर ग्रन्थों को स्वयं देखें, तो उनमें उन्हें उत्तमोत्तम दिव्य तत्त्व देखने को कैसे मिलेंगे? आजकल शास्त्रों के सम्बन्ध में आक्षेप करनेवाले भी उसके तात्त्विक अर्थ को समझ नहीं पाते। तभी

वे अर्थ को अनर्थ बतलाते हैं। यदि योग्य गुरु द्वारा शास्त्रों को पढ़ा जाय, उनके अर्थों पर मनन किया जाय, तो आज दिन जो धार्मिक अत्याचार होते दिखायी दे रहे हैं, उनका अन्त हो जाय। बिना गुरु किये अपने आप शास्त्रों का विवेचन करने से अनेक प्रकार के दुर्भावों की कल्पना होती है। प्राणी की आँखों पर जैसे उपनेत्र लगे रहते हैं, वैसी वस्तु दिखायी देती है। पित्तदोष से दूषित रसना से मधुरातिमधुर पदार्थ भी तिक्त हो जाता है, इस में कोई सन्देह नहीं। दूषित कल्पना से दूषित अर्थ ही समझ पड़ते हैं और शास्त्र के यथार्थ तात्त्विक रहस्य से वञ्चित ही रहना पड़ता है। मनमानी कल्पना करने से तत्त्व उपलब्ध नहीं होता। वास्तविक अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ समझने से दुष्परिणाम ही फैलता है। उदाहरणार्थ, 'रासपञ्चाध्यायी' शास्त्र, वेद आदि ग्रन्थ स्वयं देखने के नहीं हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण लोग भले ही स्वयं पढ़ लें, पर उसके भी अर्थ के अनर्थ करनेवाले लोग विद्यमान हैं। गोस्वामीजी कहते हैं —

'नहिं कलि कर्म न धर्म विवेकू रामनाम अवलम्बन एकू'।

तो क्या कलियुग में सन्ध्या, पूजन, जप, तप, कर्म, धर्म बन्दकर एकमात्र राम ही राम की रट लगाने का अभिप्राय गोस्वामीजी का है? तब तो फिर बच्चे लोग पढ़ना लिखना तथा अनेक प्रकार के अपने काम छोड़कर रामनाम का ही जप बराबर किया करें। वास्तव में बात यह नहीं है। केवल नाम का समाश्रयण चतुर्थ आश्रमियों को ही करना चाहिए, अनधिकारियों को नहीं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि बच्चे नाम लेना बन्द कर दें। लें, पर समय से। यह नहीं कि सब काम छोड़-

कर तोते की तरह 'राम राम' ही रटते रहें। गोस्वामीजी का यह अभिप्राय कदापि नहीं था। इसके लिए भी समय है। कुसमय पर नाम लेना हानिकर है। जैसे 'रामनाम सत्य है' या 'राम राम'। बात तो बिलकुल ठीक है, पर किसी मङ्गलमय कार्य में, विवाह, पुत्रजन्म आदि अवसरों पर इस के कहने का निषेध है। इसी प्रकार जिन लोगों को रामनाम के भजन का अधिकारी शास्त्रों ने बतलाया है, उन्हीं को यह अभ्यास करना चाहिए। भगवत्प्राप्ति की सिद्धि शास्त्राज्ञा मानकर चलने से ही होता है, यह नहीं कि बालकों को सन्ध्यावन्दन, जप, तप आदि से एकदम अलग कर दिया जाय। ऐसा करने से तो अन्त में कुछ भी हाथ न आयेगा।

अतः पूर्वापर की बातों को समझने से गोस्वामीजी की सम्मति ऐसी नहीं मालूम होती, जैसी आजकल कुछ लोग कहते फिरते हैं। वाक्यों के पूर्वापर से अभिप्राय समझे बिना अनर्थ करना भारी मूर्खता है। गुरु के आश्रय से ही असली अर्थ समझना चाहिए। तब शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव परब्रह्म में पर्यवसान और स्थिति होता है। ध्यानजन्य समाधान के प्राप्त होने पर साधक को उसके द्वारा शुद्ध, बुद्ध परब्रह्म में वेदों का तात्पर्य निर्धारण होता है। ध्यान के कारण ही अच्युत (स्वरूप से जो न गिरे, गुणदोषविरहित, शुद्ध चैतन्य) की प्राप्ति होती है। केवल श्रवण से साधक साध्य को नहीं पा सकता, क्योंकि इसमें सुदृढ़ता नहीं रहती, सुदृढ़ता तो मनन से ही होती है। साधक के लिए परममङ्गलमय बात यही है कि वह सदा, सर्वदा अपने प्रियतम के साथ रहे। पर यह साथ तभी सम्भव है, जब शास्त्र-श्रवण और मनन करते हुए मङ्गलमय परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का

अनुसन्धान दत्तचित्त होकर किया जाय। निदिध्यासन से दृढ़ता होती है और तर्क-वितर्क से विचलितता नहीं होती। पहले जैसा कि कहा गया है, गुरुवाक्यों का श्रवण करके बाद में तर्कों से विवेचन करना चाहिए, फिर उपपत्तियों से खूब मनन करना चाहिए। ऐसा करने पर भगवान की ओर पर्याप्त आस्था होगी। सर्वप्रथम यदि श्रवण दृढ़ न हुआ, तो यह सब कुछ न बनेगा, अतः उसका दृढ़ होना आवश्यक है। श्रवण दृढ़ होने से ही इन्द्र ने शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यानन्दघन को प्राप्त कर लिया और विरोचन उससे वञ्चित रह गया। श्रवण की पुष्टि होने पर मननद्वारा इन्द्र की असाधारण रूप से दृढ़ स्थिति हुई और विरोचन जहाँ का तहाँ रह गया। वेदान्तों का भी तात्पर्य यही है कि मनन और निदिध्यासन द्वारा मेधावी पुरुष ब्रह्म में स्थित हो सकते हैं। मेधा से बुद्धिमत्ता, बुद्धिमत्ता से तर्ककुशलता होती है। फिर यह सुनिश्चित है कि मन का पूर्णतया झुकाव साराति‌सार तत्त्व परब्रह्म की ओर हो।

दूसरे मार्ग का समाश्रयण करने से लक्ष्य बदल जाता है। मनुष्य की द्रव्योपार्जन, शिष्यसम्पादन, मान इत्यादि की ओर प्रवृत्ति होने लगती है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो वैराग्य चाहिए। बिना वैराग्य के फटी पुरानी गुदड़ी भी नहीं छूटती। पर वह वैराग्य सदा बना नहीं रहता। यदि वैराग्य सदा बना रहे, तो

'को न मुच्येत बन्धनात्।'

बीच में मायारूप विघ्न बाधक बनकर मान, प्रतिष्ठा, शिष्यसम्पादन आदि प्रलोभन में परमसयानी बुद्धिवालों को भी फँसा लेते हैं, फिर क्षुद्र प्राणियों का तो कहना ही क्या? परब्रह्म प्राप्ति में लगने पर विघ्नबाधाएँ

तो उपस्थित होंगी ही। ये ही परीक्षाएँ हैं, जिनसे उत्तीर्ण होना चाहिए। शिव के प्राप्त्यर्थ पार्वती ने जो तपस्या की, उसमें वह कैसी दृढ़ रहीं! भगवद्भक्त विरक्त को भोगों और लोगों से क्या काम!

'भोग तज्यो जिमि रोग, लोग जिमि अहिगण'।

भगवद्भक्तों को भी इसी का पदानुसरण करना पड़ेगा, तभी तपस्या की पूर्ति सम्भव हो सकेगी। सांसारिक विषय उस मनोरम सुन्दर सर्पिणी की भाँति हैं, जिसका स्पर्श सुखद है, जिस पर बढ़िया चित्रकारी है, जिसे प्रतिक्षण देखते ही रहने की इच्छा हुआ करती है, पर बुद्धिमान् लोग परिणाम को सोचकर जिसके काटखाने के भय से उसकी ओर दृष्टि नहीं डालते। तस्कर के मुख पर वे निगाह नहीं करते, पर मूर्ख नाना प्रकार के प्रलोभन में पड़कर कामिनी के पीछे कालसर्प से असमय में ही डँस लिये जाते हैं। इससे वे ही बच पाते हैं, जो आचार्यों द्वारा निर्धारित रास्ते से चलते हैं। वन में अनेक चोर-डाकुओं का भय है। वे वहाँ सुन्दर रास्ते अपने ही घर की ओर बनाकर प्रलोभन देकर पथिकों को लिवा लाते और ठगते हैं। वैसे ही मायापरिवार अद्भुत नकली रास्ते बनाकर साधक को भ्रम में डालने का प्रबल प्रयत्न किया करता है। जो मायारूप चोर-डाकुओं के फन्दे में नहीं पड़ते, वे संसार के आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और जो रास्ते के उत्तम फल के श्रवण और सौगन्ध्य की उपलब्धि में पड़ जाते हैं, वे अपने पास के सञ्चित द्रव्य से भी हाथ धो बैठते हैं। विषमय फलवाले वृक्ष की ओर निहारने से तो सर्वस्वनाश होगा ही। साधक को अपनी साधना में विश्राम लेने की आवश्यकता नहीं है। उसे यह इच्छा कदापि न होनी चाहिए कि हमें

संसार जाने। ऐसी इच्छा करनेवाले को संसार तो नहीं जानता, ब्रह्मपद भी उसे स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता। जो निरभिमान होकर स्थिर चित्त से भगवद्भजन में लीन रहता है, उसकी साधना सफल होती है। सिद्धि की सफलता होते देखकर इस आशा में भी न पड़ना चाहिए कि हम अब तो परब्रह्म के सन्निकट आ गये, थोड़ा विश्राम कर लें तो चलें। जबतक अपने निश्चित आनन्दपद सुमौख्यसम्पन्न महल में न पहुँच जांय, तबतक ऐसी धारणा करके संसार की मौज में लिप्त न होना चाहिए, नहीं तो चोर डाकू लगकर उसे फिर वहीं पहुँचा देंगे, जहाँ से वह चला था। ऊँचे से ऊँचे साधक ब्रह्म के निकट पहुँचकर भी सुस्ताने में अटक चुके हैं। इसलिए बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है। सर्वतोभावेन भगवत्प्रपन्न की चेष्टा जब प्रभु में उत्पन्न होगी और विश्राम की आवश्यकता मालुम न पड़ेगी, तभी उसे उस दिव्य धाम की सुखद छाया में विश्राम और शान्तिग्रहण का अवसर प्राप्त होगा।

परन्तु संसार के ममतारत और लाभी प्राणियों के लिए ज्ञानोपदेश करना ऊसर में बोये हुए बीज के समान व्यर्थ है। ऐसे लोगों को गुरु कुछ भी उपदेश नहीं कर सकते। जब अपना ही अन्तःकरण पवित्र नहीं, अपने से सावधानी करते नहीं बनती, तब गुरु के पास ही जाकर वह क्या करेगा? उनका कुछ सदुपदेश करना और समय देना व्यर्थ ही जायगा। इसलिए भगवान् शङ्कराचार्यजी कर्मानुष्ठान में आग्रह करते हैं। कर्मयोग से परमेश्वराराधन और परमेश्वराराधन से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर लोभ और मोह से छूटकर मनुष्य को इष्टसिद्धि में सहायता

मिलती है, नहीं तो ऊसरहृप लोभ मोहप्रयुक्त जीव में बीजरूप ज्ञान का पौधा उगने का प्रयत्न निष्फल होकर ही रहेगा।

धर्मानुष्ठान द्वारा रज और तम के अभाव से साक्षात्कार बनता है। धर्मनिष्ठता एवं साधनचतुष्टय से सम्पन्न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा की उत्पत्ति होती है। अनभिज्ञ जीव उत्सुकतावश जो अनधिकार चेष्टा करता है, उस में उसे सफलता नहीं मिलती। घड़े के निर्माण के लिए जैसे मिट्टी, पानी आदि की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही भगवत्प्राप्ति के लिए उस के आवश्यक साधन सर्वप्रथम एकत्रित करने पड़ेंगे। मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि अनधिकार चेष्टा से सांसारिक प्रपञ्चों में लिप्त होकर 'ब्रह्म ब्रह्म' चिल्लानेवाला जीव घोर नरक में गिरता है। भगवान् शङ्कराचार्य अद्वैतमतावलम्बी थे, उन्होंने अनधिकारियों को ठीक मार्ग का विचारकर चलने का उपदेश किया है। उनका तो कहना है कि

> "अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम्।
> अप्यसत् प्राप्यते ध्यानात् नित्योऽहमिति पुनः स्वयम् ॥"

शुद्ध चित्त से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी चिन्तन करनेवाला ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। भावना द्वारा जब असत् पदार्थ की भी प्राप्ति हो जाती है, तब ध्यान से सद्वस्तु ब्रह्म की प्राप्ति क्यों न होगी? जो तत्त्वदर्शी हैं, विचारवान् हैं, उनके सङ्कल्प से घट पट हो जाता है। वे जो कहेंगे, सत्य होगा। योगी द्वारा नहुष को अजगर योनि मिली। जैसा उसने कहा, नहुष वैसा ही हो गया। वह स्वभाव से अजगर नहीं था, पर महर्षि के सङ्कल्प से उसे वैसा होना पड़ा। इसके लिए दीर्घकाल तक निरन्तर

तपस्या करने की आवश्यकता है। तब कहीं आकर जो सङ्कल्प किया जायगा, वह ठीक ठीक वैसा ही उतरेगा।

कम से कम रागद्वेषशून्य और साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर शुद्ध रूप से जब उस परब्रह्म का अनुसन्धान किया जाय, तब वे मिलते हैं। धर्मानुष्ठान भी यदि न किया जाय और अन्तःकरण भी शुद्ध न किया जाय, तो ब्रह्मचिन्तन भी अनर्थकर होता है। रागद्वेषरूपी मल को हृदयरूप दर्पण से हटाकर स्वरूप का दर्शन भली प्रकार होता है। आज दिन संसार ब्रह्मसाक्षात्कार से बहुत दूर दिखायी देता है। इसका कारण यह है कि यह संसार के भोग विलास को स्थायी और ब्रह्मसुख को अस्थायी समझता है। यही सोचकर वह सांसारिक वासनाओं में लिप्त है। संसार के क्षुद्र से क्षुद्र विषयों के लिए मन लालायित हो रहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की वासना में मन लिप्त है। जब इनसे वैराग्य नहीं, तब ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान कब और कैसे सम्भव हो सकता है? जब संसार के इतने छोटे छोटे सुखों में मन लगा है, तब फिर ऐन्द्र सुख, ब्राह्मसुख आदि की प्राप्ति होने पर तो जीव और भी लिप्त हो जायगा। जीव की परीक्षा के लिए जब ये सुख सामने रखे जायगे, तब भला वह इसमें कैसे उत्तीर्ण हो सकेगा? एक साधारण स्त्री को देखकर उसमें मन जब आसक्त हो जाता है, तब रम्भा, शची, उर्वशी जैसी सुकामिनियों को देखकर क्या वह घृणा करेगा? ब्रह्मसुखप्राप्ति के लिए तो इन सब से वैसे ही घृणा करनी पड़ती है, जैसे मल को देखकर स्वभावतः घृणा उत्पन्न होती है। कल्पवृक्ष, विमान को देखकर जीव का मन यदि फिर जाय, तो चिरशान्ति प्राप्त हो, चञ्चलता नष्ट हो और निर्विकल्प समाधि हो।

• •

परन्तु साठ साठ वर्ष एकान्त में तप करनेवाले कितने ही योगी-मुनियों को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। मन को जब विक्षेपरहित किया जाय, शान्ति, इन्द्रियनिग्रह किया जाय, त्वचा पर बुद्ध-मलेप हो या चाकू चले, इसकी परवाह न हो, सुख दुःख में साम्य रहे, उपरति हो, सब दुःख सहन हों, तब जाकर कहीं मुमुक्षत्व प्राप्त होता है साधन-चतुष्टय के बिना ब्रह्मज्ञान असम्भव है।

भगवान् शङ्कराचार्यजी ने कहा है कि भगवान् तो केवल प्रणव के उच्चारण से प्राप्त होते हैं, पर अनधिकारी को इस का उच्चारण नहीं करना चाहिए। सामान्य श्रेणीवालों के लिए उन का कहना है कि

'गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्॥"

वेदान्त का उपदेश-श्रवण, गीता विष्णुसहस्रनाम का पाठ, सज्जनों की सङ्गति और गरीब की सेवा करना चाहिए। शुद्ध मन से ऐसा करने पर वह भगवत्कृपाप्राप्ति का अधिकारी हो सकता है। अपने मन से शास्त्र देखे, वेद पढ़े, जो मन में आया वही करे और माने, यह ठीक नहीं है। औषधालय में सभी प्रकार की दवाएं रहती हैं, विषैली एवं अमृतमय भी। रोगी का रोग देखकर वैद्य जैसी दवा देगा, उसी से रोगी का दुःख दूर होगा। यदि मूर्ख जाकर उस में से स्वयं निकाले, तो विष खाकर मर जाय। वैसे ही शास्त्र और वेदों की बात भी है। सद्गुरु द्वारा अपना अधिकार समझकर उन से रोग का निदान करवाना चाहिए। शास्त्रों से मनमाना अर्थ निकालना ठीक नहीं है। तत्त्वज्ञ गुरु के पास जाकर उसे रोग बतलाना चाहिए, वह विचारकर जब औषध देगा, तभी इस भव रोग से मुक्ति मिलेगी। (सिद्धान्त ४।३९)।

नास्तिक भी आस्तिक

जो भगवान् भक्तों के सर्वस्व एवं ज्ञानियों के एकमात्र परमतत्त्व हैं, वही नास्तिकों से नास्तिकों के भी सब कुछ हैं। यह बात असम्भव-सी प्रतीत होती है, परन्तु विवेचन करने से अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। चाहे कैसा भी नास्तिक क्यों न हो, वह अपने अभाव से घबराता है, वह यही चाहता है कि मैं सदा बना रहूँ। साधारण से साधारण प्राणी भी आत्मरक्षा के लिए व्यग्र रहता है। कोई भी अपने अस्तित्व को मिटाना नहीं चाहता। इस तरह नास्तिक भी अपने अस्तित्व का पूर्णानुरागी है। अपने आप कौन है, जिसका अस्तित्व वह चाहता है, इसे वह न जानता हो, यह बात दूसरी है। यदि सौभाग्यवश कभी इस ओर भी उसकी दृष्टि फिर गयी, तब तो वह समझ लेगा कि विनश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार ये सभी दृश्य तथा मेरे हैं और मैं इनसे पृथक् तथा इनका द्रष्टा हूँ और मैं उसी निर्विकार, दृक्स्वरूप स्वात्मा का ही सदा अस्तित्व चाहता हूँ। विवेचन करने से यह भी विदित होता है कि स्वप्रकाश दृक् का अस्तित्व 'तत्'स्वरूप ही है। इसीलिए आत्मा स्वप्रकाश कहा जाता है। जगत् की अनेकानेक वस्तुओं में चाहे जितना भी सन्देह हो, परन्तु 'मैं हूँ या नहीं' ऐसा आत्मविषयक सन्देह किसी को भी नहीं होता। जगत्, परमेश्वर, धर्म, कर्म सभी का अभाव सिद्ध करनेवाले शून्यवादी को भी अनिच्छया स्वात्मा का अस्तित्व मानना ही पड़ता है, क्योंकि जो सब के अभाव का सिद्ध

करनेवाला है, यदि यह रह गया, तब तो स्वातिरिक्त ही सब का अभाव सिद्ध होगा, अपना अभाव नहीं सिद्ध हो सकता। सर्वनिराकर्ता, सर्व निषेध की अवधि एवं साक्षीभूत के अस्वीकार करने पर शून्य भी अप्रामाणिक होगा। अतः वही अत्यन्त अबाधित, सर्वबाध का अधिष्ठान एवं साक्षीभूत अस्तित्व या सत्ता ही भगवान् का 'सत्' रूप है।

साथ ही बोध और प्रकाश के लिए प्राणिमात्र में उत्सुकता दिखाई देती है। पशु पक्षी भी स्पर्श से, आघ्राण से किसी तरह ज्ञान के प्रेमी हैं। यह ज्ञान की वाञ्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। हमें अब अमुक तत्त्व का ज्ञान हो, अब अमुक का हो, इतिहास, भूगोल, खगोल, भूततत्त्व एवं अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव सभी तत्त्वों को जानने की इच्छा होती है। किं बहुना बिना सर्वज्ञता के ज्ञान में सन्तोष नहीं होता। पूर्ण सर्वज्ञता कहाँ हो सकती है यह विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सब पदार्थ जिस स्वप्रकाश, अखण्ड, विशुद्ध भान (बोध) में कल्पित हैं, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है, क्योंकि प्रकाश या भान अत्यन्त असङ्ग एवं निरवयव और अनन्त है। उसका दृश्य के साथ बिना आध्यासिक सम्बन्ध के और संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। अत यदि सर्वज्ञ होने की वाञ्छा है, तो सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान, विशुद्ध, अखण्ड बोध होने की वाञ्छा है। यह अखण्ड बोध ही भगवान् का 'चित्' रूप है। जैसे पूर्वोक्त अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश सत्ता या अस्तित्व ही अपना तथा सब का निज रूप है, वैसे ही यह अबाध्य, अखण्ड बोध भी सब का अन्तरात्मा है।

संसार में पशु, कीट, पतङ्ग कोई भी ऐसा नहीं है, जो आनन्द के लिए व्यग्र न रहता हो। प्राणिमात्र के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि की जितनी भी चेष्टाएँ एवं हलचलें हैं, वे सभी आनन्द के लिए हैं। बिना किसी प्रयोजन के किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती। एक उन्मत्त भी, चाहे भ्रम या अज्ञान से ही सही, आनन्द के लिए ही समस्त चेष्टाएँ करता है। समस्त वस्तुओं में भ्रान्त होता हुआ भी प्राणी जिसके लिए नाना चेष्टाएं करता है, उसके विषय में उसे सन्देह या भ्रम अथवा अज्ञान हो, यह कैसे कहा जा सकता है?-इस तरह जिसके लिए समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द बहुत प्रसिद्ध है। संसारभर की समस्त वस्तुओं में प्रेम जिसके लिए हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम का आस्पद हो अर्थात् जो अन्य के लिए प्रिय न हो, वही 'आनन्द' होता है। देखते ही हैं कि समस्त आनन्द के साधनों में प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री, पुत्र आदि में प्रेम तभीतक है, जबतक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही उनसे द्वेष हो जाता है। परन्तु, सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहता है। कभी भी, किसी को भी आनन्द से द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह सभी आनन्द को चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील तथा लालायित रहते हैं।

परन्तु उसे पहचानने की कमी है, क्योंकि जिस आनन्द और सुख के लिए नास्तिक व्यग्र है, उसे पहचानता नहीं। वह तो सुखसाधन स्त्री पुत्र, शब्द-स्पर्श आदि सम्भोग में ही सुख की भ्रान्ति में फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु विवेचन से विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम, कभी द्वेष होता है, वह सुख नहीं, किन्तु सदा ही जिसमें

निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है । जगत् के सम्भोग साधन पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अतः वे सुखरूप नहीं हैं, किन्तु अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति में तृष्णाप्रशमन के अनन्तर जिस शान्त, अन्तर्मुख मन पर सुख का आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्ब का निदान या बिम्बभूत जो अन्तरात्मा है, वही 'आनन्द' है । जो लक्षण आनन्द का है, वही अन्तरात्मा का भी है । जैसे सब कुछ आनन्द के लिए प्रिय है, आनन्द और किसी के लिए प्रिय नहीं, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्मा के लिए प्रिय होती हैं, आत्मा किसी दूसरे के लिए प्रिय नहीं होती । अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और वही निरतिशय, निरुपाधिक परमप्रेम का आस्पद है । उसी का आभास अन्तर्मुख अन्तःकरण पर पड़ने से 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है । इसी के लिए समस्त कार्य्य करण सङ्घात की प्रवृत्ति होती है । यह सुख दुःख मोहात्मक, नानात्मक सङ्घात से विलक्षण सुख-दुःख-मोहातीत, असङ्ग, अखण्ड, अद्वितीय तत्त्व ही भगवान का 'आनन्द' रूप है । इस तरह सभी सच्चिदानन्द भगवान् के उपासक हैं ।

प्राणिमात्र स्वतन्त्रता चाहते हैं । एक चींटी भी पकड़े जाने पर व्याकुलता से हाथ पैर चलाती है । शुक, सारिका आदि पक्षी सोने के पिंजड़े में रहकर सुन्दर, मधुर भोजन की अपेक्षा बन्धन मुक्त होकर स्वतन्त्रता से वन में खट्टे फलों को भी खाकर जीवन व्यतीत करने ही में सच्चे आनन्द का अनुभव करते हैं । इस तरह प्राणिमात्र बन्धन से छूटने तथा स्वतन्त्रता के लिए लालायित है । ऐसी स्थिति में कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा ? परन्तु स्वतन्त्रता का

वास्तविक रूप विवेचन करने से स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान् का ही स्वरूप है। बिना असङ्ग सच्चिदानन्द भगवान् को प्राप्त किये बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रताकी कल्पना अत्यन्त ही निराधार है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणदेह का सम्बन्ध बना है, तबतक स्वतन्त्रता कैसी? भले ही कोई माता-पिता, गुरुजनों तथा वेद शास्त्र की आज्ञाओं को न माने और उनसे अपने को स्वतन्त्र मान ले, परन्तु जन्म, जरा, व्याधि, दरिद्रता, विपत्ति, मृत्यु आदि के परतन्त्र तो प्राणिमात्र को होना ही पड़ता है, क्योंकि जबतक क्षुद्र स्वतन्त्रता त्यागकर शास्त्रों एवं गुरुजनों के परतन्त्र होकर कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा मल, विक्षेप, आवरण को दूर करके शरीरत्रय बन्धन से मुक्त होकर निजी निर्विकार स्वरूप को न प्राप्त कर ले, तबतक पूर्ण स्वातन्त्र्य मिल सकता ही नहीं। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'स्वतन्त्रता' भी सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, प्रत्यगभिन्न भगवान् का ही स्वरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्र को यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ। यहाँ तक कि माता पिता, गुरुजनों के प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरह से मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओं के प्रति भी होती है। ये सभी भाव भी जीवभाव के रहते नहीं हो सकते। समस्त कल्पित पदार्थ कल्पना के अधिष्ठानभूत भगवान् के ही परतन्त्र हो सकते हैं। इस तरह परमार्थतः पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पूर्ण नियामकत्व, ये सब भगवान् में ही होते हैं। जब आस्तिक, नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण नियामकत्व, पूर्ण बोध,

पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ता के लिए व्यग्र हैं तथा इनकी प्राप्ति के लिए जीजान से प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक जिसकी प्राप्ति के लिए व्यग्र है, वह वही भक्तों और ज्ञानियों के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य परमब्रह्म भगवान् नहीं हैं, क्योंकि प्राणिमात्र किंवा सत्वमात्र का अन्तरात्मा भगवान् ही है। फिर उनसे विमुख होकर निःसत्त्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा? इसी आशय से श्री वाल्मीकि की उक्ति है—

"लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।"

लोक में ऐसा कोई हुआ ही नहीं, जो राम का अनुगामी न हो। निज सर्वस्व के बिना किसी को भी कैसी विश्रान्ति? अतएव तरङ्ग की जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणिमात्र की भगवदनुगामिता है। भेद यही है कि ज्ञानी अपने प्रियतम को जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसी के लिए व्यग्र होते हुए भी उसे जानते ही नहीं। (सिद्धान्त १।३)।

अध्यात्मवाद और अकर्मण्यता

प्रायः कहा जाता है कि 'अध्यात्मवाद, विशेषकर वेदान्त ने समस्त संसार को मिथ्या तथा निःसार बतलाकर यहाँ के लोगों को अकर्मण्य बना दिया है। इस मत में वैयक्तिक या राष्ट्रिय अभ्युदय के लिए प्रयत्न का सम्मान क्या ?' परन्तु ऐसा समझनेवालों की यह धारणा नितान्त भ्रमात्मक है, क्योंकि जब निःसार भोजन-पानादि में तत्परता से नियमित प्रवृत्ति सम्भव है, तब वैयक्तिक या राष्ट्रिय अभ्युदय में प्रवृत्ति क्यों असम्भव होगी ? वेदान्त में मर्त्य, अनृत, क्षणभङ्गुर शरीर से अमृत, सत्य, परमतत्त्व की प्राप्ति को ही बुद्धि का वैभव कहा गया है—

"एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम् ॥"

यही बुद्धिमानों की बुद्धिमानी और यही मनीषियों की मनीषा है, जिसके द्वारा मर्त्य और अनृत से अमृत तथा सत्य तत्त्व प्राप्त कर लिया जाय। जिससे अमृतपद की प्राप्ति होती हो, वह चाहे मर्त्य एवं निःसार ही क्यों न हो, उसके संरक्षण एवं सुधार का प्रयत्न होना स्वाभाविक ही है। रेशम के कीड़े अपावन होते हुए भी किस तरह प्रिय एवं रक्षित होते हैं—

'पाट कीट तें होंहि, ताते पाटम्बर रुचिर।
कृमि पालहिं सब कोई, परम अपावन प्राणसम ॥
पन्नगारि ! यह नीति, श्रुतिसम्मत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परमहित ॥"

निःसार, मर्त्य या मिथ्या प्रपञ्च में भी राजस, तामस, सात्त्विक तीन भेद हैं। राजस, तामस प्रपञ्च प्राणियों के अधिकाधिक पतन या अवनति का और सात्त्विक प्रपञ्च निष्प्रपञ्च परमानन्द परब्रह्म की प्राप्ति का मूल है। जैसे कण्टक निकालने के लिए भी कण्टक की अपेक्षा और आदर अनिवार्य है, वैसे ही सर्वानर्थमूल राजस-तामस-प्रपञ्चनिवृत्ति के लिए भी सात्त्विक प्रपञ्च की अपेक्षा तथा आदर अनिवार्य है। नियन्त्रित देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से ही मायामय प्रपञ्च की निवृत्ति होती है शान्त, सात्त्विक देश या समाज और सात्त्विक वातावरण में ही निष्प्रपञ्च परब्रह्म प्राप्ति के अनुकूल सत्प्रयत्न सफल होते हैं। यदि अशान्त, उपद्रुत देश और समाज तथा तत्त्व वातावरण में ही सदा रहना पड़े, तो परमात्मतत्त्व की रुचि और उस ओर प्रवृत्ति तक असम्भव हो जाती है, अतः दुःखमय मिथ्या प्रपञ्च मिटाने के लिए भी आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रपञ्च का शुद्ध करने की नितान्त आवश्यकता है। मिथ्या प्रपञ्च की भी निवृत्ति बिना स्वधर्मानुष्ठान, पापक्षय, सत्समागम, भगवद्भजनादि के नहीं हो सकती—

"अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥"

इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिए कि जन्म, जरा, मरणादि परम्परा, संसार की दुःखरूपता एवं उद्वेगजनकता सर्वानुभवसिद्ध है। उसकी निवृत्ति के अनुकूल साधन-सम्पादन परमावश्यक है। निष्प्रपञ्च परब्रह्मप्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम सभी की अपेक्षा होती है। अर्थ काम-परायण तथा निर्वाणमय भगवत्परायण में इतना ही भेद है कि

पहला व्यक्ति तो धर्म का फल अर्थ तथा अर्थ का फल काम मानता है और दूसरा व्यक्ति अर्थ का मुख्य फल धर्म तथा गौण काम या भोग को मानता है। धर्म का मुख्य फल मोक्ष है और अर्थ गौण। काम का भी मुख्य फल है प्राण-धारण और गौण फल इन्द्रिय तर्पण। कोई भी प्राणी बिना भोजनादि के प्राण-धारण नहीं कर सकता और बिना प्राणधारण के श्रवणादि भी कैसे हो सकता है? अर्थ कामपरायण पुरुष काम की सुविधा के लिए धर्म, कर्म, परलोक आदि की कुछ भी परवाह नहीं करता, परन्तु तत्त्वज्ञ पूर्णरूप से अर्थ काम का सम्पादन करता हुआ भी इस पर ध्यान रखता है कि अर्थ काम सम्पादन के लिए ऐसे मार्ग का अवलम्बन न किया जाय, जिससे आमुष्मिक अभ्युदय बाधित हो जाय और नीच योनियों में अनेकों जन्म लेने पड़ें। तात्कालिक तुष्टि-पुष्टि के लिए विषमिश्रित मधुरान्न सेवन कर प्राण त्याग क्या उचित है? जैसे काम में आसक्त होकर अर्थ का विलोप कर देने से भोग भी असम्भव हो जायगा, वैसे ही अर्थ में आसक्त होकर धर्म मोक्षविरोध करना भी ठीक नहीं। संन्यासी के लिए भी शास्त्रों ने आहार के लिए चेष्टा करने को कहा है—

"आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम्।"

इस रीति से निःसार संसार की निवृत्ति के लिए भी धर्म, अर्थ, काम तीनों की अपेक्षा होती है।

अतः अध्यात्मशास्त्र सेवी के लिए भी यह सब अनिवार्य्य ही है। आर्थिक, नैतिक पतन एवं राष्ट्रिय और वैयक्तिक पतन-काल में निर्विघ्न पुरुषार्थ का अनुष्ठान असम्भव होता है। अतः जैसे स्वार्थ के अक्षुण्ण

रखनेके लिए भी परार्थसाधन की आवश्यकता होती है, वैसे ही अपने परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए भी राष्ट्रहित की अपेक्षा होती है। फिर आध्यात्मिक-रहस्यदृष्टि में तो देश और समाज की सेवा धर्मोत्पादन द्वारा अन्तःकरण शुद्धि में उपयुक्त होती है। एक दूसरी दृष्टि से देखें, तब तो विदित होगा कि आध्यात्मिक रहस्यज्ञ देश या समाज को जड़ समझकर उसकी सेवा में करुणा से प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु विश्व को अपने ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य पूर्णतम पुरुषोत्तम का स्थूल स्वरूप समझकर भगवदाराधन-बुद्धि से ही उसका सेवन करता है।

वेदान्तों ने भगवान् के चार प्रधान रूप बतलाये हैं—समष्टि स्थूल प्रपञ्च उनका स्थूल रूप, महदादि समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च उनका सूक्ष्म स्वरूप, समष्टि कारणप्रपञ्च उनका कारण स्वरूप और कार्य्य, कारण, जागर, स्वप्न, सुषुप्त आदि समस्त प्रपञ्चों से अतीत, सर्वाधिष्ठान, अखण्डबोध पारमार्थिक स्वरूप। इसी अन्तिम स्वरूप की प्राप्ति के लिए पहले उन तीनों रूपों की उपासना करनी पड़ती है। सप्रपञ्च स्वरूप की उपासना से ही निष्प्रपञ्च तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसी आशय से महानुभावों ने कहा है—

"सरित्समुद्रांश्च हरे शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः"

अथवा

"सियाराममय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि जुग पानी।"

इतना ही नहीं, समष्टि जगत् को परप्रेमास्पद आत्मस्वरूप समझना पड़ता है। इसके लिए क्रमेण ममता को विकसित करना पड़ता है। जब विश्व में पूर्ण आत्मीयता सम्पन्न हो जाती है, तभी उसमें आत्मबुद्धि

उत्पन्न होती है। फिर तो जैसा सर्वातिशायी प्रेम आत्मा में, वैसा ही विश्व में होता है। फिर तो विश्वकल्याण साधक का निजी कल्याण हो जाता है, क्योंकि उसने अपनी व्यष्टि परिच्छिन्न सत्ता में मिला दी है। अतएव विश्व के हित और अहित से पृथक् उसका कोई भी हित और अहित नहीं रह जाता। उस दशा में देश, काल, जाति तथा सम्प्रदायों के नानाविध सङ्कोच अस्तङ्गत हो जाते हैं। फिर तो वह किसी एक देश, जाति या सम्प्रदाय में आबद्ध नहीं रह सकता, वह तो सब का हो जाता है और सब उसके हो जाते हैं। किं बहुना, वह सर्वरूप हो जाता है। वह एशिया, यूरोप या मर्त्यलोक, मुसलमान या हिन्दू, देवता या दानव को ही आत्मा या आत्मीय नहीं समझता, अपितु सारा विश्व, नहीं नहीं, समस्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उसका आत्मीय किंवा आत्मा हो जाता है। इसी स्थिति का वर्णन वेदान्त करते हैं—

"वासुदेवः सर्वमिति", "सकलमिदमहञ्च वासुदेवः", 'आत्मैवेदं सर्वम्।"

अर्थात् यह सब कुछ वासुदेव ही है, यह सब कुछ आत्मा ही है।

वेदान्तों का तो यहाँतक कहना है कि संसार में ब्रह्म, क्षत्र, लोक, वेद, किं बहुना नगण्य से नगण्य, जिस किसी भी तत्त्व को भगवान् से पृथक् देखा जायगा, वही अपना अपमान समझकर अपध्यान द्वारा भिन्नदर्शी की परमपुरुषार्थ प्राप्ति में बाधक हो जायगा। भगवान् ही सर्वरूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। अनेक रूप में छिपे हुए भगवान् को पहचानकर सर्वत्र ही उनका सम्मान करना बुद्धिमानी है। दीन, हीन दुःखियों का अपमान उन उन रूपों में छिपे हुए भगवान् का ही अपमान है। जिसे

आत्मा या आत्मीय समझा जाता है, वह बहुत ही प्रसन्न होता है। 'अपना' देश, वित्त, कलत्र, पुत्र माता, पिता, 'अपने' भगवान्—इस 'अपनेपन' में क्या ही अद्भुत रस है। 'अपनापन' नीरस को सरस बना देता है। फिर जिस 'आत्मा' के सम्बन्ध से 'अपनापन' होता है, उस 'आत्मा' के रस की तुलना ही और कहाँ की जा सकती है! वेदान्त निखिल विश्व को आत्मरूप बतलाकर सब में सरसता और प्रेमास्पदता की स्थापना कर देते हैं। जैसे आत्मसुख के लिए प्राणी का सर्व प्रकार का प्रयत्न सम्भव है, वैसे ही विश्व के सुख की चेष्टा भी सम्भव है। विश्वकल्याण के लिए एक सच्चा ज्ञानी न केवल 'यह सब कुछ मिथ्या है, आत्मा ही सत्य है' इस उपदेश को पर्याप्त मानता है और न केवल रोटी मिल जाने को ही पर्याप्त समझता है। वह तो आर्थिक तथा नैतिक अभ्युदय द्वारा विश्व के परमकल्याण सम्पादन के मार्ग को प्रशस्त कर देना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। यथाशक्ति, यथासम्भव एक अध्यात्मतत्त्ववेत्ता यही चाहेगा कि प्रत्येक व्यक्ति की केवल तात्कालिक सापेक्ष ही उन्नति न हो, अपितु वह पूर्णतम पुरुषोत्तम परमपद पर प्रतिष्ठित हो जाय। परमतत्त्व से वञ्चित प्राणियों को देखकर अभिज्ञ के हृदय में नितान्त व्यथा होती है। स्वाभाविक काम कर्म ज्ञानरूप मृत्यु का वैदिक काम-कर्म ज्ञान से व्यष्टि अभिमानरूप मृत्यु का समष्टि के अभिमान से, प्रमादरूप मृत्यु का सावधानता से, अज्ञानरूप मृत्यु का ज्ञान से उल्लङ्घन करने पर मृत्युञ्जय परमपद भगवत्-प्राप्ति होती है। ऋषियों का मत है कि चाहे सैकड़ों साम्राज्य प्राप्त हो जाँय, मृत्युतरण के सहस्रों उपाय क्यों न किये जाँय, परन्तु मृत्युञ्जय भगवान् का परमपद साक्षात्कार किये

बिना सर्व प्रकार के मृत्यु की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। प्रमादशून्य होकर विवेकी जबतक निखिल प्रपञ्च का स्वप्रकाश-प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मरूप में साक्षात्कार नहीं करता, तबतक वह पूर्ण कृतार्थता ही नहीं मानता।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वेदान्तमत में समस्त ज्ञान और कर्म निःसार एवं उपेक्ष्य समझे जाते हैं। एक किसी अनिर्देश्य अलौकिक तत्त्व को ही सर्वस्व मानकर उसी में वेदान्तियों की तत्परता होती है। इन्हीं भावनाओं से लौकिक ज्ञानों एवं कर्मों की उपेक्षा की गयी है। इसीलिए भारत में वैज्ञानिक कलाकौशल एवं भौतिक चमत्कार न हो सके। परन्तु यह दोष वेदान्त का नहीं प्रमादियों का है। अच्छी से अच्छी वस्तु का दुरुपयोग किया जा सकता है। वास्तव में जो पूर्णतम पुरुषोत्तम परमानन्दमहासिन्धु को प्राप्त कर चुका, उसे क्षुद्र सुख एवं तत्साधनों से निःस्पृहता होनी स्वाभाविक ही है। जिसे अमृतमय जलनिधि प्राप्त हो चुका, वह वापी, कूप, तड़ागादि से निःस्पृह हो ही जाता है। परन्तु, दिव्य जलनिधिप्राप्ति के पहले यदि वापी, कूप, तड़ागादि की उपेक्षा की गयी, तब तो अवश्य ही क्षुधा पिपासा से मृत्युमुख में जाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति की उपेक्षा अवश्य ही प्रमाद है। ऐसे ही निर्विघ्न, निरतिशय परमतत्त्व की अप्राप्ति या प्राप्तिभ्रान्ति में ही जिन्होंने लौकिक कर्म और ज्ञानों की उपेक्षा की, वे नितान्त अज्ञ एवं प्रमादी हैं। सम्यक् तत्त्व के प्राप्तिकाल में सर्व प्रपञ्च में निरपेक्षता सर्वमान्य है ही—

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥"

विवेचक यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो बड़े बड़े विद्वानों एवं विवेकियों में भी पुत्रैषणा, वित्तैषणा नहीं तो लोकैषणा का अङ्कुर अवश्य ही पायेंगे। फिर उनको छिपाकर या बलात् दबाकर कोई कैसे सर्वकर्म-संन्यास का अधिकारी हो सकता है ? सत्य वस्तु छिप नहीं सकती, वह एक न एक दिन बहुत विकृत रूप धारणकर अभिव्यक्त हो उठती है। अतः या तो उचित शास्त्रीय उपायों से उन वासनाओं की पूर्ति की जाय अथवा स्वधर्मानुष्ठान एवं भगवदाराधन से अन्तःकरण को शुद्धकर के उनका समूल नाश किया जाय, अन्यथा उनके छिपाने का कुछ भी फल नहीं। अज्ञानी या अविशुद्धसत्त्व कहे जाने के भय से अपने को अन्यथा व्यक्त करना या शास्त्र का ही अर्थ अपने स्वरूप के अनुसार लगाना कथमपि बुद्धिमानी नहीं है। धारणा, ध्यान, समाधि आदि अन्तरङ्ग साधनों का अधिकार प्राप्त हो जाने पर बाह्य कर्मों का त्याग अकर्मण्यता नहीं कही जा सकती। मजदूर जिन कार्यों को करते हैं, उच्चकोटि का शिक्षित इञ्जीनियर उन कार्यों को नहीं करता, फिर भी वह अकर्मण्य नहीं कहा जाता। अन्ततः उच्चकोटि के महाप्रयत्नों से कृतकृत्य होना प्राणि-मात्र का लक्ष्य है। कृतकृत्य वही हो सकता है, जिसके लिए कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट न रहे। तभी अभियुक्तों ने कहा है—

> "ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
> नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्य मस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥"

ज्ञानामृत से तृप्त, कृतकृत्य योगी को कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रहता। अतएव—

> "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन"

इत्यादि वचनों से तत्त्वज्ञ को कृतकृत्यता कहकर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म का प्रतिपादन किया है। इस तरह वेदान्तमत में अकर्मण्यता का कलङ्क कथमपि नहीं हो सकता।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि वेदान्तमत में कर्म तथा ज्ञान का तेज एवं तिमिर किंवा स्थिति तथा गति के समान विरोध है। जहाँ प्रकाश नहीं, वहाँ जैसे अन्धकार रह सकता है, वैसे ही जहाँ ब्रह्मतत्त्व-विद्या नहीं, वहीं कर्म रह सकता है। अतः इस मत में तत्त्ववित् के द्वारा कर्म की आशा नहीं हो सकती, फिर तत्त्ववित् से समाज या राष्ट्रनिर्माण कैसे सम्भव है? इतना ही नहीं, तत्त्वविविदिषु के लिए भी वेदान्त सर्व-कर्मसंन्यास की ही सलाह देता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है। ज्ञान और कर्म का विरोध अवश्य है, पर "तत्त्ववित् से लोकप्रसिद्ध कर्म नहीं हो सकते' यह बात नहीं कही जा सकती। तात्पर्य यह है कि वेदान्तमत में लोकप्रतीतिसिद्ध यत्किञ्चित् हलचल को ही कर्म नहीं समझा जाता, अपितु कर्तृत्व भोक्तृत्व नानात्व बुद्धिपूर्वक साहङ्कार एवं साभिनिवेश देहेन्द्रियादि की चेष्टाओं को ही 'कर्म' कहा जाता है। अकर्त्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, अद्वैत, सदानन्दात्मा का साक्षात्कार 'तत्त्वज्ञान' है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त रीति से तत्त्वज्ञान होने पर कर्तृत्व, नानात्व, अहङ्कार, अभिनिवेश आदि अज्ञानमूलक भावों का बाध हो जाता है। जैसे जपाकुसुमादि के संसर्ग से स्फटिक में लौहित्य का आरोप होता है और स्फटिक की स्वच्छता का बोध हो जाने से ही उसमें लौहित्य बुद्धि बाधित हो जाती है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारादि उपाधियों के संसर्ग

से ही उक्त उपाधियों के व्यापार (हलचलें) सर्वभासक भगवान् अन्तरात्मा में भासित होने लगते हैं। परन्तु वास्तव में समस्त अन्तःकरणादि उपाधियों तथा उनके विकारों का प्रकाशक चिदात्मा अत्यन्त निर्विकार एवं निर्व्यापार है। इस तरह आत्मा के वास्तविक निर्व्यापार स्वप्रकाश रूप का बोध होने पर उसमें अध्यारोपित व्यापारवत्ता मिट जाती है।

इस प्रकार लोकदृष्टि से कर्त्ता भोक्ता, सद्वितीय प्रतीत होता हुआ भी ज्ञानी वस्तुतः आत्मा को अकर्त्ता, अभोक्ता, असङ्ग अद्वैत, अनन्तरूप ही देखता है। जैसे पित्त-दोष से गुड़ के तिक्त प्रतीत होने पर भी उसे मधुर समझना और स्फटिक के लोहित प्रतीत होने पर भी वस्तुतः उसे स्वच्छ समझना भ्रान्ति या उन्माद नहीं कहा जा सकता, वैसे ही कर्त्ता, भोक्ता, अनन्त व्यापारयुक्त, महाकर्मठरूप प्रतीत होने पर भी आत्मा को अकर्त्ता, असङ्ग, अनन्त, कूटस्थ अद्वैत समझना भी भ्रान्ति या उन्माद नहीं कहा जा सकता। इसीलिए भगवान् ने ऐसी दशा में भी ऐसा समझनेवाले को 'युक्त' एवं 'तत्त्ववित्' कहा है—

"पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।"
"नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।"

रहा यह कि वेदान्त-मत में ज्ञान और कर्मों के निःसार होने की बात, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान से हान तथा उपादानबुद्धि होती है। अधिक ज्ञानवान् या सर्वज्ञ होने का अर्थ यही है कि अधिक से अधिक हेय और उपादेय तत्त्वों को जानकर हेयों का त्याग तथा उपादेयों का उपादान करें। दुःख तथा दुःखसाधन हेय और सुख तथा सुखसाधन उपादेय होते हैं। सर्व ज्ञान एवं कर्मों का एकमात्र यही प्रयोजन होता

है कि समस्त दुःख एवं दुःखसाधनों को मिटा दें और समस्त सुख एवं सुख-साधनों को प्राप्त कर लें। परन्तु, जब ऐसा अनन्त, अखण्ड, पूर्णतम, परमानन्द-पुरुषोत्तमपद प्राप्त हो चुका कि जिसमें कथञ्चित् भी दुःख का स्पर्श नहीं और समस्त सुख जिसका आभासमात्र है, तब फिर किसी भी ज्ञान और कर्म की आवश्यकता ही क्या? आनन्द-महासिन्धु जिसे प्राप्त है, उसे आनन्दाभास तुषार की क्या आवश्यकता? चिकित्सा से होनेवाले स्वास्थ्य सुख के लिए रोग उत्पन्न करना या उसे बनाये रखना क्या बुद्धिमानी है? इसी तरह, क्या योग एवं भोग-सामग्रियों से वासनापूर्तिजन्य सुख के लिए क्षुधा पिपासा-वासना को बनाये रखना भी बुद्धिमानी है? परिश्रम के अनन्तर क्षणिक विश्रान्ति या क्षणिक सुख तो केवल मजदूरी है। रोज कमाते जाना, रोज खाते जाना भी ठीक ही है, परन्तु यदि अन्य उपाय न हो। परिश्रम से क्षणिक सुख में विश्रान्ति उदात्त आदर्श नहीं है बुद्धिमान् लौकिक एवं शास्त्रीय महापरिश्रमों से एक ऐसी अखण्ड, अनन्त विश्रान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, जिसमें क्षुधा तृष्णादि का सदा के लिए अन्त हो जाय और उनकी चिकित्सा के लिए विषय एवं वैषयिक सुखों की अपेक्षा ही न रह जाय। इस लोक तथा परलोक के जितने भी विषय एवं वैषयिक सुख हैं, उनकी सार्थकता अशनाया (क्षुधा, कामना या तृष्णा) के होने में ही है, अशनाया आदि के अभाव में वे व्यर्थ हैं। काम न होने में कामिनी व्यर्थ, क्षुधा पिपासा न होने में भोज्य तथा पेय पदार्थ व्यर्थ हैं।

बड़े बड़े विचारकों में भी आन्तरिक प्रपञ्चवासना लक्षित होती है।

भोग-वासना जब शतधा प्रयत्न करने पर भी नहीं हटती, तब उसकी पूर्ति का शास्त्राविरुद्ध लौकिक या शास्त्रीय उपाय न करना सिवा प्रमाद के और क्या कहा जा सकता है ? साधारण इन्सान भी जब बैठने के लिए भूमिशोधन करता है, तब जहाँ सौ पचास वर्ष रहना है, वहाँ का सुधार या अभ्युदय न सोचना कहाँ तक युक्त है ? साधक आत्मकल्याण-कामना से और ज्ञानी लोकसङ्ग्रहबुद्धि से लौकिक सुधार चाहता है। यावत्प्रारब्ध ज्ञानी को भी इसी संसार में रहना पड़ता है। यहाँ का वातावरण विकृत होने पर उसके ध्यान धारणा में भी बाधा पड़ेगी। देहयात्रा-निर्वाहार्थ उसे भी संसारियों से कथञ्चित् सम्बन्ध रखना ही पड़ता है। इसके सिवा जैसे अमानिता, अदम्भिता ज्ञानी के स्वाभाविक धर्म हैं, वैसे ही लोकहितैषिता भी होनी स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि वायुभक्ष, वल्कल-वसनधारी परमब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी, ऋषि, मुनि अत्यन्त निरपेक्ष रहकर भी लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत रहते थे।

परन्तु, वासनानिवृत्ति के पहले भोगसामग्रियों का अभाव एवं तत्साधन ज्ञान कर्मों का अभाव तो अवश्य ही पतन है। अमृतसागर तक पहुँचने के लिए भी तो मध्य में वापी, कूप की अपेक्षा है। इसी प्रकार अशनायादि दोषों से अतीत ब्रह्मप्राप्ति तक तो सभी साधन अपेक्षित ही हैं। साध्यसिद्धि के पश्चात् सभी के मत से साधन व्यर्थ हैं। नदी पार करने के लिए तो नौका अपेक्षित ही है, पहले से ही उसकी उपेक्षा सरासर भूल है। यह बात तो नैयायिक, वैशेषिक तथा सांख्य योग मतानुयायी—जो प्रपञ्च को सत्य मानते हैं—के मत में भी समान ही है। मोक्षदशा में प्रपञ्च प्रतीति एवं व्यवहार का अभाव इन सभी को

मान्य है, फिर प्रपञ्च चाहे सत्य हो या मिथ्या। अतः सभी के मत में जबतक मोक्ष न हो तभीतक प्रापञ्चिक उन्नति एवं सुधार के लिए प्रयत्न सम्भव है। मोक्ष के बाद सभी को उपरत होना है। जो व्यक्ति प्रपञ्च, कुटुम्ब तथा अपने आपको ध्रुव सत्य मानकर रात दिन अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील है, वह भी क्या प्रपञ्च को सत्य मान लेने मात्र से सदा यहीं रह सकता है? वह माने चाहे जो कुछ, अन्ततः सौ-पचास साल के बाद इच्छा न रहते हुए भी उसे जन्मभर के कार्य और कार्य क्षेत्र को छोड़ना ही पड़ेगा। रही 'यह बुद्धि कि जब जीवन थोड़े ही दिन का है, तब थोड़े दिन के लिए वैयक्तिक एवं सामाजिक अभ्युत्थान के लिए कौन प्रयत्न करे? तो इस पर यही कहना है कि यदि जीवन का अस्थायी होना वास्तविक है, तो उसे छिपाने से क्या लाभ! सत्य वस्तु अवश्य ही एक दिन व्यक्त होगी। परन्तु, इतने से कर्तव्यशीलता में त्रुटि नहीं हो सकती, क्योंकि जब थोड़े कालतक ही बैठने के लिए श्वान भी भूमिशोधन करता है, तब ज्ञानागार मनुष्य के विषय में तो कहना ही क्या! इसके सिवा इन्हीं क्षण भङ्गुर साधनों से ही तो अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्ष मिलेगा।

विश्व के मिथ्या होने का भी अर्थ कुछ और ही है। वेदान्त के अर्थ से अपरिचित होने के कारण ही लोगों में भ्रम फैला है। पारमार्थिक परम सत्य की अपेक्षा लौकिक, व्यावहारिक सत्य पदार्थ मिथ्या कहा जाता है जैसे प्रान्त या मण्डल निवासियों की अपेक्षा जो जो माण्डलिक या प्रान्तपति राजा हैं वे ही सर्वाधिपति की प्रजा कहे जाते हैं, वैसे ही स्वाप्निक प्रपञ्च तथा रज्जु सर्पादि लोकप्रसिद्ध मिथ्या पदार्थों की अपेक्षा

आकाशादि प्रपञ्च सत्य समझे जाते हैं, वे, ही परमार्थ-परमसत्य की अपेक्षा मिथ्या कहलाते हैं। छोटे छोटे राजाओं के राजा को जैसे 'राजराज' कहा जाता है, वैसे ही लौकिक सत्यों के सत्य को 'सत्य का सत्य' कहा जाता है। नीरस, निःसार प्रपञ्च को सत्य एवं सरस बनानेवाले भगवान्, सत्य के सत्य एवं रसस्वरूप कहे जाते हैं। 'सत्यस्य सत्यं' आदि वचनों से भी स्पष्ट विदित होता है कि सत्य अनेक होते हैं। भगवान् अत्यवाधार्य एवं मुख्य परमार्थ सत्य हैं, प्रपञ्च व्यावहारिक सत्य है। चीनी, मिश्री आदि में स्वतः माधुर्य है और मोदकादि में इनके सम्बन्ध से, अतः मोदकादि में परतः माधुर्य कहा जाता है—

"जासु सत्यता तें जड माया, भास सत्य इव मोहसहाया।"

प्रायः सभी ईश्वरवादी, जीव-जगत् की अपेक्षा ईश्वर को विलक्षण मानते हैं। जीव कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी तथा प्रपञ्च सुख-दुःख-मोहात्मक जड़ात्मक है और भगवान् सुख दुःख जड़ प्रपञ्चातीत, स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप हैं, तो फिर उन दोनों की सत्ता ही में समानता क्यों? क्या जैसी क्षणभङ्गुर पदार्थों की सत्यता, वैसी ही त्रिकालाबाध्य परमार्थवस्तु की भी सत्यता हो यह कैसे कहा जाय? बाध्यत्व ही मिथ्यात्व है और अबाध्यत्व ही सत्यत्व है। आपेक्षिक घटादि की अबाध्यता 'आपेक्षिक सत्यता' और भगवान् की आत्यन्तिक अनापेक्षिक अबाध्यता ही 'पारमार्थिक सत्यता' है। आत्यन्तिक, पारमार्थिक सत्य तत्त्व की प्राप्ति के लिए आपेक्षिक सत्य प्रपञ्च की अपेक्षा है। यही प्रपञ्च प्राप्य परमतत्त्व की अपेक्षा मर्त्य एवं अनृत कहा जाता है। मिथ्या का अर्थ शशशृङ्गादि

के समान किसी वस्तु का अपलाप नहीं, किन्तु सदसद्विलक्षण ही मिथ्या है। अतः भाष्यकार का कथन है कि—

"मिथ्याशब्दो नापन्हववचनः किन्त्वनिर्वचनीयतावचनः।"

जो वस्तु जैसी है, उसे उसी तरह जानना चाहिए। प्रकाशमय तत्त्वज्ञान में अनर्थ की सम्भावना कैसी? भ्रान्ति, अज्ञान अनर्थ के मूल एवं स्वयं भी अनर्थरूप ही हैं। कण्टक, गर्त, सर्पादि जानकर बचाये जाते हैं, बिना जाने प्राणी उनमें पड़कर अनर्थ का भागी हो जाता है। यदि देहादि विनश्वर हैं, तो इस तथ्य को छिपाना उचित नहीं है। वेदान्तशास्त्र से व्यामोहादि की निवृत्ति होती है। शोक,मोह ही प्राणी के कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्धारण में बाधक होते हैं। विवेक, विज्ञान-सामर्थ्य के विनष्ट होने पर पुरुष का पुरुषत्व ही समाप्त हो जाता है—"बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।" शोक-मोह के नष्ट होने पर विवेक विज्ञान की प्रखरता से प्राणी सर्वप्रकार के कर्त्तव्यों तथा अकर्त्तव्यों का निर्णय कर सकता है।

इस तरह वेदान्त, धर्म, ईश्वर ये कभी भी अनिष्ट के हेतु नहीं हैं। प्रमादी के लिए तो आत्मरक्षा का साधन उसका शस्त्र ही उसके नाश का हेतु बनता है, फिर उसके लिए कोई क्या करे? संसार के सन्तापों से सन्तप्त प्राणी को आश्वासन एवं जीवन प्रदान करनेवाले अध्यात्मबोधक शास्त्रों में जिसे अनिष्टबुद्धि हो, उसे क्या कहा जाय? जिस समय नाना शोक, मोह, चिन्ताओं से प्राणी व्यग्र होता है, नींदतक में विघ्न खड़े होते हैं, उस समय सिवा अध्यात्मज्ञान के और क्या सहारा रह जाता है! सब ओर सङ्कटपूर्ण परिस्थिति में, मुरझाये हुए जीवन में, वेदान्त जीवनी शक्ति का सञ्चार कर सकता है। विपत्तियों की घनघोर घटाओं के बीच

एकमात्र आश्चर्य्यमय ज्ञान ध्यं ही सम्प्राप्य होता है। साँप से लड़ते लड़ते परिश्रान्त नकुल (नेवला) को जिस प्रकार शक्ति सञ्चारिणी परिचित महौषध ही आश्रय प्रदान करती हैं, उसी प्रकार चिन्ता सर्पिणी से पीड़ित प्राणी को निर्विष, निःशोक बनानेवाला एकमात्र अध्यात्मशास्त्र ही है। संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसे वासनाओं तथा चिन्ताओं ने नहीं सताया ?—

"चिन्ता-साँपिनि काहि न खाया, को जग जाहि न व्यापी माया।"

किसी भी दशा में वेदान्त अपने ज्ञानालोक से प्राणी को निर्भय एवं निःशोक बना सकते हैं। यह आत्मा के उस अखण्ड, अनन्त रूप को प्रदर्शित कर देते हैं, जो समस्त शोक, मोह, सम्पत्ति, विपत्ति तथा सभी परिस्थितियों का निर्विकार प्रकाश है, सारे उपद्रव जिसका स्पर्श तक नहीं कर सकते, जिसको जान लेने से अनेकानर्थपूर्ण भवसागर में भी चारों ओर परमानन्दसुधासागर ही दृष्टिगोचर होता है। आधियों की निवृत्ति, तथा धैर्य्यलाभ आदि जो कि व्यावहारिक कार्य्यक्षेत्रों में हर तरह से अपेक्षित होते हैं, वेदान्त उनका भी अचूक महौषध है। ऐसी परिस्थिति में क्या कोई भी बुद्धिमान् विवेचक अध्यात्मवाद को लोकव्यवहार में अनुपयुक्त और अकर्मण्यता का निदान कहने का साहस कर सकता है ? (सिद्धान्त २।७ ८)

———

मोह-महिमा

संसार में जहाँ कितने ही महापुरुष ऐसे हैं, जो विकारहेतु के विद्यमान रहने पर भी विकृत नहीं होते, अनन्तानन्त विशेष की सामग्रियाँ रहते हुए भी वे उन के चित्त को क्षुब्ध नहीं कर सकतीं, वहीं संसार में ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं कि कुछ न होते हुए भी मन-परिकल्पित मिथ्या राग—मिटाने का शतधा प्रयत्न करने पर भी—अनिवार्यसा बना रहता है। राजा सुरथ अपने अमात्यों से बहिष्कृत होकर अरण्य में पहुँच जाने पर भी ममत्वाकृष्टमनस्क होकर सोचता था कि जिस पुर का मैंने और मेरे पूर्वजों ने पालन किया, मेरे बिना अब उसका क्या होगा! असद्वृत्त मेरे अमात्य ठीक ठीक पालन करेंगे या नहीं? मेरा मतवाला हाथी शत्रुओं के वश में चला गया, अब उसे खुराक आदि ठीक मिलती है या नहीं? जो प्रसाद, धन, भोजनादि से सदा मेरा अनुगमन करते थे, वे अब दूसरे लोगों का अनुवर्त्तन करेंगे, जिस कोष का मैंने बड़े कष्ट से सञ्चय किया था, उसका सदा व्यय करनेवाले शत्रुओं के द्वारा क्षय हो जायगा—

"असम्यग्व्ययशीलैस्तैः कुर्वद्भिः सततं व्ययम्।
सञ्चितः सोऽतिदुःखेन क्षयं कोषो गमिष्यति॥"

सोचिये, अब जो चीज अपनी रह न गयी, उसके लिए इतनी चिन्ता क्यों होनी चाहिए? सुरथ के समान ही एक दूसरा और उसे मित्र मिल गया—समाधि वैश्य। वह अपनी और विलक्षण कथा सुना चला—"मैं बड़े धन

वान् कुल में उत्पन्न हुआ था, परन्तु धन के लोभ से मेरे दुष्ट पुत्रों और स्त्री ने मुझे निकाल दिया। पुत्र-स्त्री से वियुक्त होकर और आप्त बन्धुओं से भी तिरस्कृत होकर मैं वन में चला आया हूँ। परन्तु यहाँ मुझे अपने पुत्र-दारादि कुटुम्बियों के कुशल अकुशल का कुछ भी समाचार नहीं मिल रहा है। पता नहीं उन लोगों के घर में कुशल-क्षेम है या नहीं! पुत्र सद्वृत्त हैं या दुर्वृत्त! सुखी हैं या दुःखी!'' राजा ने पूछा—"जिन लोभी पुत्र-दारादि ने तुम्हारा परित्याग ही कर दिया, फिर उनमें तुम्हारा स्नेह क्यों?" वैश्य ने कहा—"महाराज! बात तो कुछ ऐसी ही है, क्या करूँ मेरे मन में *निष्ठुरता नहीं आती। जिन्होंने* पितृस्नेह का परित्याग कर दिया, पत्नी ने पति प्रेम तथा स्वजनों ने जनप्रेम परित्याग कर दिया, फिर भी उनके प्रति मेरे मन में क्यों स्नेह है, समझ में नहीं आता।' दोनों ने मिलकर सुमेधा मुनि से अपनी अवस्था बतलायी। राजा ने कहा—'मेरा राज्य और राज्याङ्ग सब चला गया। यह वैश्य भी स्वजनों से पूर्ण तिरस्कृत हो चुका, फिर भी क्यों उन में राग है! मन में निष्ठुरता क्यों नहीं आती?'' विषयों में दोषदर्शन कर लेने पर भी सहसा राग की निवृत्ति नहीं होती। परस्पर स्नेह भी बन्धन का कारण होने से त्याज्य है। विचार करने से शुद्धचिदात्म-स्वरूप जीवात्मा के लिए मिथ्या भौतिक शरीर, तत्सम्बन्धी एवं धनादि में राग का स्थान कहा! लौकिक दृष्टि से भी परस्पर ही स्नेह ठीक है। परन्तु जो बिल्कुल नहीं चाहते, क्रूर से क्रूर व्यवहार करने को प्रस्तुत हो सकते हैं, उनमें भी स्नेह और दुस्त्यज स्नेह! यही मोहमहिमा है।

'भागवतमाहात्म्य' में धुन्धुकारी की कथा प्रसिद्ध है। जिन

वेश्याओं को प्रसन्न करने के लिए अपने माता-पिता के दुःख का कारण बना, जिनके लिए अपना पैतृक धन गँवाया और जिनके लिए चोरी की, उन्होंने ही धन के लोभ से मुख में अङ्गार डालकर जला कर मार डाला। एक राजा का बड़ा सुन्दर फल मिला, उसने अपनी प्रेयसी पत्नी के स्नेह में स्वयं न खाकर उस को ही खिलाकर अमर बनाना चाहा। वह प्रेयसी किसी अपने अन्य प्रेयान् में आसक्त थी, अतः पतिस्नेह की रञ्चभर भी परवाह न करके उसे अमर बनाने के लिए उसने वह फल उसे दे दिया। उसकी भी प्रेयसी कोई वेश्या थी, उसने उसे दिया। वेश्या ने सोचा—मैं क्या खाऊँ, मेरा तो जीवन पापमय ही है, यह फल धर्मात्मा राजा को दूँ। यह सोचकर उसने वह फल राजा को दिया। राजा आश्चर्य में पड़ गया। पता लगाया तो सब रहस्य विदित हुआ। यह उसकी निर्वेदोक्ति प्रसिद्ध है—अहो! जिसका मैं सर्वदा स्नेह से चिन्तन करता हूँ, वह मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं, वह दूसरे को चाहती है। वह भी दूसरे में आसक्त है और उसकी भी आसक्ति का विषय किसी कारण से मुझ पर सन्तुष्ट है, उसको, मदन को और इसे तथा मुझे सब को धिक्कार है—

> "यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
> साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
> धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥"

यह अनुभव करके आखिर राजा विरक्त हो गया। सुरथ और समाधि को भी वैराग्य उत्पन्न हुआ। परन्तु एक दो बार अपमानित

होकर भी, तत्त्वज्ञानवान् होकर भी, स्थिर वैराग्यवान् होना जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का ही फल है। यों तो रागाभाव तत्त्वज्ञानी को भी होता ही है। प्रसिद्ध ही है कि महामाया भगवती ज्ञानियों के भी मन को बलात् आकृष्ट कर लेती है—

"सो ज्ञानिहु कर मन अपहरई, बरियाई विमोहवश करई।"

अज्ञानी की तो कथा ही क्या, ज्ञानी को भी व्यामोह हो जाता है। व्यामोह ग्राह ही है, सब के लिए। उसकी निवृत्ति के बिना निरङ्कुश तृप्ति किसी को भी प्राप्त नहीं होती। पदार्थों की क्षणभङ्गुरता स्पष्ट है। शरीर का अस्थि, चर्म, मूत्र, पुरीषादि मलिन पदार्थों से निर्मितत्व स्पष्ट है। फिर भी राग द्वेष का अभिनिवेश मिटना सरल नहीं है। परन्तु यह भी सत्य है कि बिना उनके मिटे शान्ति भी सम्भव नहीं है। छाया के समान पदार्थ हैं। उनका अनुगमन करने पर वे हाथ नहीं लगते। विषयों, इन्द्रियों और मन के किङ्कर बन रहने पर प्राणी को सारे विश्व का किङ्कर होना पड़ता है। एक बार जी कड़ा करके विषयों से विमुख हो जाओ, संसार से मुंह मोड़ लो, फिर सुखी हो जाओगे, मनचाही वस्तु स्वयं पीछे लगी घूमेगी। यदि भोक्ता भोग्य का गुलाम न बना, तो भाग्य को ही भोक्ता का गुलाम बनना पड़ता है।

विचार के द्वारा मोह का समूलोन्मूलन होता है। परन्तु इन्द्रियनिग्रह, तपस्या और परात्मा के मङ्गलमय श्रीचरणों की कृपा परमावश्यक है। उसके बिना तो सब साधन व्यर्थ ही हो जाते हैं। इन्द्रिय निग्रह के बिना सच्छिद्र घट में डाले हुए जल के समान तपस्या का क्षरण हो जाता है। तपस्या के बिना सम्पूर्ण विचार केवल मनोराज्यमात्र हो जाता है। परन्तु उपास-

नाशकि से विचारों में वीर्यवत्ता आती है, अन्यथा पदार्थों की नश्वरता और घृणास्पदता शीघ्र ही निर्णीत हो जाने पर भी निष्ठा और आचरण में कठिनाई क्यों होती ! जिनको बाह्य वस्तुओं के विक्षेप और सक्षेप से हर्ष और क्षोभ नहीं होता, उन्हें जगज्जननी जनकनन्दिनी जानकी नमस्कार करती है—

"धन्या खलु महात्मानो मुनय सत्यसम्मताः। जितात्मानो महाभागा येषा न स्तः प्रियाप्रिये ॥ ४५ ॥ प्रियान्न सम्भवेद्दु खमप्रियादधिक भवेत्। ताभ्या हि य वियुज्यन्ते नमस्तेषा महात्मनाम् ॥ ४६ ॥" (येषा मुक्ताना प्रियाद्वियुज्यमानाद्दु ख न सम्भवेत अप्रियात्सयुज्यमानादधिकप्रियवियोगादप्यधिक दु ख न भवेत्। अप्रियादधिक भयमिति योज्यम्। सयुज्यमानादप्रियादधिक महद्भयमपि न भवेदित्यर्थ । ताभ्या प्रियवियोगजदु खाऽप्रियसंयोगजदु खभयान्यतराभ्या ये न वियुज्यन्ते तेषा महात्मना सात्त्विका नमस्क्रियास्तु ॥' (सु० का० २६ वां सर्ग)।

———

आत्मकल्याण और विश्वकल्याण

शास्त्रों का यथार्थ अभिप्राय समझकर, धर्माधर्मव्यवस्था जानकर आचरण करने से ही लौकिक पारलौकिक सुख होता है। बड़े बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा परमहंस वीतरागादि महात्माओं का स्वभाव ही भगवान् का भजन करना हो जाता है। 'स्वभावो भजनं हरेः' किन्तु इनमें भी कुछ लोकसंग्रही स्वयं आप्तकाम होते हुए भी धर्मानुष्ठान में लगे रहते हैं। विश्व की कल्याणकामना से प्रेरित होकर वे दुनियाँ के बखेड़े में पड़ते हैं। ऐसे लोगों को विशेष भगवद्भजन अपेक्षित होता है। आखिर यह दुनियाँ का बखेड़ा है न। इसका सम्बन्ध भयानक उत्तेजक है। और कुछ ऐसे परमात्मनिष्ठ होते हैं, जिन्हें किसी से कुछ सरोकार नहीं। वे दुनियाँ की चिन्ता नहीं करते, क्योंकि वे समझते हैं कि दुनियाँ कुत्ते की पूँछ के समान है, उसमें कितना ही तेल लगाया जाय, घी लगाया जाय, बाँस की नली में डालकर सीधा किया जाय, पर रहेगी वह टेढ़ी ही टेढ़ी। महानुभावों का प्रयत्न निष्फल नहीं हुआ, बहुतों को लाभ ही हुआ, पर दुनियाँ की रफ्तार नहीं बदली। प्रह्लादजी ने भगवान् से कहा—'प्रभो! मैं इन संसार के प्राणियों को दुःखी देखकर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता', इस पर भगवान् ने कहा— प्रह्लाद! सब का दुःख छूट जाय, सब की मुक्ति हो जाय यह बड़ा कठिन है। एक श्रोत्रिय, जो आज धर्माधर्म जाननेवाला है, वही कल नीच से नीच कर्म में प्रवृत्त हो सकता है।

"पाई सुरदुर्लभ पदादपि गिरत हम देखे हरी।"

ऊँचे से ऊंचे पद पर से लोग गिर जाते हैं। जब एक जीव की मुक्ति में इतनी झञ्झट है, तब फिर सब जीव मुक्त हो जाँय, यह कैसे हो सकता है!' अतः वेदान्त कहता है कि आँख खोले, स्वप्न का संसार मिटे, तो मुक्ति हो, किन्तु यह निद्रा भङ्ग नहीं होती, स्वप्न नहीं मिटता और आँख नहीं खुलती, तो सब की मुक्ति कैसे होगी! 'योगवाशिष्ठ' में वशिष्ठ ने राम से कहा है—'हे राम! एक रजकण में मुझे अनेक ब्रह्माण्ड परिलक्षित होते हैं।' धूलि का छठा अंश परमाणु, उसका पञ्चमांश तन्मात्रा, उसका आयत थोड़े अंशों में वायु प्राण, उसके सूक्ष्म अंश में मन, मन में ब्रह्माण्ड, उसमें अनन्त मन, अनन्त मन में अनन्त ब्रह्माण्ड, अतः सूक्ष्म रजकण में भी अनेक ब्रह्माण्ड हैं। एक बरगद के बीज में वृक्ष है, उस वृक्ष में पुनः बीज, पुनः वृक्ष, याने एक बीज में करोड़ों वृक्ष हैं। इस प्रकार अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त जीव हैं, इन सब की मुक्ति कैसे होगी! इसलिए महात्मालोग ऐसा विचारकर विजन वन में निवास करते हुए मौन धारण कर लेते हैं। ठीक ही है, दूसरे का कल्याण भी तभी कर सकते हैं, जब अपना कल्याण कर लें। नहीं तो—

"एकहिं एक सिखावत तुलसी जपहिं न राम॥"

"स्वयं तीर्णः परान्तारयति, स्वयं भ्रष्टः परान् भ्रंशयति, स्वयं नष्टः परान्नाशयति।"

अतः हरएक व्यक्ति दुनियाँ के कल्याण को छोड़, भगवद्परायण होकर पहले अपना आत्मकल्याण प्राप्त करे, फिर दुनियाँ के कल्याण की चिन्ता में

पड़े। प्रह्लादजी स्वयं तीर्ण हुए, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक प्रभु को प्राप्त कर लिया, कृतकृत्य हो गये, तब आये विश्वकल्याण के क्षेत्र में।

"कामानां हृद्यसंरोहः भवेदेष वरो मम।"

ऐसे परमनिष्काम होते हुए भी वे अपनी नित्य की उपासना में कहा करते थे—विश्व का कल्याण हो, खल भी प्रसन्न हो जाय, सब का मन भद्र वस्तु की ओर प्रवृत्त हो, हम सब की अहैतुकी मति भगवान् अच्युत में प्रविष्ट हो—

"स्वस्त्यस्तु विश्वस्य, खलः प्रसीदताम्,
ध्यायन्तु भूतानि मिथः शिवं धिया।
मनश्च भद्रं भजतामधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥"

पर यह कामना नहीं है जब मत्तराज जैसे निष्काम लोग भी इस भावना को निष्कामता की बाधक नहीं मानते, तब और कोई इस विषय में क्या कह सकता है? जैसे भगवान् में राग वैराग्य का बाधक नहीं, किन्तु वैराग्य का भी परम फल है, वैसे ही निष्काम कर्मों का यह परम फल है कि प्राणी सङ्कीर्णता से मुक्त होकर विश्वकल्याण, धर्मरक्षण का शुभानुसन्धान करने लगे। विषयेन्द्रियजनित सम्प्रयोग तुच्छ सुखकणों की कामना ही निन्द्य है। अचिन्त्य, अनन्त परमानन्दसिन्धु भगवान् के सम्मिलन की कामना तो अत्यन्त निष्काम होने का परम फल है। अनन्त, अखण्ड, निःसीम, बोधस्वरूप आत्मा को कार्यकरणसङ्घातलक्षण उपाधि के भीतर सीमित करके विविध स्वार्थसिद्धियों की कामना स्वार्थपरायणता कहलाती है। स्थूल देह को ही मानकर उसके प्रयोजन खाने, पीने, पह-

नने आदि को साधारण रूप से प्राणी स्वार्थ समझता है। सूक्ष्म शरीर को स्व मानकर उसके प्रयोजन देखने, सुनने, सूँघने आदि को स्वार्थ समझा जाता है। कारणशरीर या आनन्दमय को स्व मानकर उसके प्रयोजन सोने, आनन्द लेने, प्रिय, मोद, प्रमोद आदि को स्वार्थ कहा जाता है अर्थात् जाग्रत के सभी आनन्द और उसके साधन स्वप्न के आनन्द और तत्साधन सुषुप्ति सभी अनात्मा, व्यष्टि या परिच्छिन्न आत्मा को स्व जानकर उसी के अर्थ को स्वार्थ मानकर प्राणी फँसता है। व्यष्टि समष्टि सर्वोपाधिविमुक्त अखण्ड बोध ही आत्मस्वरूप है और वही असली स्व है, उसका अर्थ, निजी प्रयोजन, अध्यारोपित सकल अनर्थ का निबर्हण और स्वरूपभूत परमानन्द की प्राप्ति ही है। अतः वही असली स्वार्थ है। उसके लिए अपेक्षा है पहले व्यष्टि अभिमान मिटाया जाय। व्यष्टि अभिमान मृत्यु है, समष्टि अभिमान अमृत है। राग, द्वेष, हिंसा आदि अनेकों अनर्थों का मूल व्यष्टि अभिमान ही है। जिसने समष्टि विश्व को आत्मा या आत्मीय मानना सीख लिया, वह जीते जी ही मृत्यु से मुक्त हो अमृत हो जाता है। द्वेष, दम्भ, कपट आदि उसके न जाने कहाँ चले जाते हैं। जैसे व्यष्टि देहादि में अभिमान रखनेवाला व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित के लिए सचेष्ट होता है, वैसे ही समष्टि अभिमानवाला व्यक्ति विश्व के हित के लिए सचेष्ट होने लगता है। इसके अतिरिक्त वह विश्व को केवल जड़ समझकर ही उसकी सेवा में नहीं लगता, किन्तु भगवान् का ही स्थूल शरीर मानकर विश्व की सेवा करता है। इसीलिए अहङ्कार, ममकार से शून्य होकर, सफल निष्फल होने की पर्वाह न करके, सुयश दुर्यश, अपमान सम्मान का ध्यान न रखकर ही

प्रवृत्त होता है। जैसे शुद्ध भाववाला प्रेमभाव से अपने भगवान् का जय मनाता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण संसार का हित चाहता है। साथ ही विश्व को उसके हितै धर्म में प्रवृत्त कराना चाहता है। इस दृष्टि से अथवा किसी भी दृष्टि से धर्म का जय या विश्व के कल्याण की कामना वैसे ही कामना नहीं कही जा सकती, जैसे प्रभुचरणारविन्दमकरन्द की तृष्णा तृष्णाकोटि में परिगणित नहीं होती। कहने का अभिप्राय यह कि कोई भी वस्तु विषय, आधार एवं स्वरूप से ही उत्कृष्ट, अपकृष्ट समझी जाती है। जैसे अग्निहोत्रादि स्वरूप मे, गोपियों का काम विषय की महिमा से एवं श्रीकृष्ण की चोरी आधार की महिमा से उत्कृष्ट है। एक भक्त कहता है—'हे श्यामसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन ! जो लोग आपकी नवनीतचोरता इत्यादि का वर्णन करते हैं, आप उन्हें शीघ्र ही अपना रूप दे देते हैं, क्योंकि वह यदि अलग रहेगा, तो निन्दा करेगा।' अतः प्रह्लादादि पूर्णकाम होने पर भी जो लोककल्याण कर रहे हैं, वह इसीलिए कि परमप्रियतम परप्रेमास्पद प्राणधन प्रभु को जो अच्छा लगे, वह करना हमारा धर्म है। भगवान् निर्गुण, निराकार से सगुण, साकार होते हैं किसलिए ? इसलिए कि धर्म की स्थापना हो, साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश हो, इत्यादि। 'धर्मसङ्घ' के चार नारों में भी यह बातें आ जाती हैं।

कुछ लोग पाना सब कुछ चाहते हैं, पर साधन एक भी नहीं करना चाहते, फिर भी यदि भगवत् शरणागति हो, तो सब काम बन सकता है और यदि साधन सब हों, भगवत् शरणागति न हो, तो सब व्यर्थ है। केवल विश्वासपूर्वक प्रभु का सहारा लेने

से भुक्ति-मुक्ति सब कुछ मिल सकती है। विभीषण को राज्य मिला। जिसे दश मस्तक काटने पर शिवजी ने रावण को दिया था, उसी राज्य को प्रभु ने सकुचते हुए विभीषण को दिया, जैसे किसी अतिथि को कुशासन दिया जाता है। आते ही प्रभु ने विभीषण को 'लङ्केश'शब्द से सम्बोधित किया। कल-कारखानेवाले जिस प्रकार कपड़े को बड़ी सावधानी से रखते हैं, क्योंकि यदि कपड़े की एक कोर भी छू गयी, तो मशीन सम्पूर्ण कपड़े को खींच लेती है. उसी प्रकार भगवान् भी जरा सम्बन्ध हुआ कि आत्मसात् कर लेते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो पाना तो सब कुछ चाहते हैं, पर साधन एक भी नहीं और भगवान् पर विश्वास भी नहीं। उनके लिए "भाव कुभाव अनख आलसहुँ" किसी भी प्रकार से भगवान् का पवित्र मङ्गलमय नाम ही कल्याणकर है। तभी तो भक्तलोग भगवान से कहते हैं—'प्रभो! मैं अपने को नहीं जानता। मैं अल्पज्ञ हूँ, अज्ञानी हूँ। यदि पागल अपने हाथों तलवार से अपना सिर काटे, तो वह दया का पात्र है, क्रोध का नहीं। वैसे ही हम यदि आप को नहीं मानते, धर्म का विरोध करने में प्रसन्न होते हैं, अपने को धन्य धन्य समझते हैं, तो यह हमारा पागलपन है। यदि हम आप की भूलें, तो यह हमारी कोई बड़ी गलती नहीं, पर यदि आप हमें भूलते हैं, तो आप की बहुत बड़ी गलती है। आप जीवों के मित्र है। श्रुतियों ने बतलाया है–जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही एक शोभन पंखवाले सुपर्ण एक जाति के पक्षी हैं, इसलिए भी उन दोनों की परस्पर पूर्ण मैत्री है। परमात्मा पालक सखा है, जीवात्मा पालक सखा है। दोनों ही की 'चेतन अमल सहज सुखराशि'रूप से ख्याति

है। कहीं सालोक्य, सख्य होने पर भी दुर्दैवयोग से भिन्न देश में रहने के कारण सम्बन्ध कमजोर हो जाता है। परन्तु यहाँ तो एक ही शरीररूप वृक्ष पर जीवात्मा-परमात्मा दोनों ही पक्षी रहते हैं, अतः सालोक्य, सख्य, सादेश्य तीनों तरह के सम्बन्ध दृढ़ हैं। यद्यपि भगवान् षड्वर्ग से सर्वदा असंसृष्ट, निर्लेप रहते हैं, तथापि चिद्रूप जीवात्मा के साथ तो भगवान् का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध रहता है। अतः सालोक्य, सख्य, सादेश्य के समान ही सायुज्य भी सर्वदा रहता है। जैसे कभी घटाकाश महाकाश से वियुक्त नहीं होता, तरङ्ग जल से वियुक्त नहीं होता, घट शरावादि मृत्तिका से वियुक्त नहीं होते, कटक-मुकुटादि सुवर्ण से पृथक् नहीं होते, वैसे ही जीवात्मा कभी भी भगवान् से अलग नहीं होता। अतः नाथ! हम तो बालकसखा हैं, यदि बालकपन करें तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु यदि आप पालक सखा होकर बालकपन करें, तो यह आप की बड़ी भारी भूल है। प्रभो! आप को यह स्मरण रखना चाहिए कि—

"जो न मित्रदुख होंहि दुखारी, तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।"

इत्यादि। इसीलिए हनुमान् जी कहते हैं—

"मोर न्याव मैं पूछेउँ साईं, तुम कस पूछहु नर की नाईं।"

भगवान् शङ्कराचार्य भी कहते हैं कि—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

तुलसीदासजी भी कहते हैं कि नाथ! मेरा मन मदारी है, वह विषयरूप उन से कभी भी अलग नहीं होता। आप एक दिन विहार रोकें, अनुकम्पा की डोर बना लीजिये, नाथ की वही डोर उस डोरी में

परमप्रेमरूपी मृदु चारा बाँधकर मेरे मन को फंसा लीजिये। इस प्रकार आप का खेल और मेरा परमकल्याण हो जायगा—

> "विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहु
> पल एक ताते सहौं बिपति अति दारुन,
> जनमत जोनि अनेक कृपा डोरि बंशी पद अंकुस
> परम प्रेम मृदु चारा। एहि विधि हरहु मेरा दुख
> कौतुक राम तिहारो॥"

श्रुतियों ने भगवान् को ही जीवों के परममित्र और सखा बतलाया है। परमस्नेही को ही मित्र कहा जाता है, तन्मूलक ही सख्य होता है। नवधा भक्ति में भी सख्यभक्ति का बड़ा ऊँचा स्थान है। सख्य के पश्चात् केवल आत्मनिवेदन ही अवशिष्ट रह जाता है। श्रीदामा, सुदामा, उद्धव, अर्जुन आदि भगवान् कृष्ण के सखा एवं मित्र थे। गोपाङ्गनाएँ भगवान् की सखी थीं, कृष्ण उनके सखा थे, इनकी अपार प्रीति अत्यन्त ही सुप्रसिद्ध है। सख्यभाव में कितनी स्निग्धता है? अर्जुन ने कहा है—'प्रभो! मेरी अपकृतियों को आप वैसे ही क्षमा करें, जैसे सखा अपने सखा के अपराध को क्षमा करता है—

> "सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।"
> "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥"

यह श्रुति बतलाती है कि जीव और ईश्वर दोनों सुपर्ण एक दूसरे के सखा हैं। वे सदा एक ही स्थान पर मिले हुए रहते हैं। उनमें से एक जीवरूपी सुपर्ण कर्मफल का भोक्ता बनता है, दूसरा ईश्वररूपी सुपर्ण

केवल साक्षी बना रहता है। ईश्वर परमनिरपेक्ष होता हुआ भी जीव का परमहितैषी और सच्चा साथी है। स्वर्ग, नरक, गर्भवासादि किसी भी समय जीव का साथ परमेश्वर नहीं छोड़ते, प्रत्युपकारनिरपेक्ष उपकार करने-वाले एक भगवान् ही हैं।

"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ, कोउ न राम सम जान जथारथ।"

राम के समान कोई भी नीति, प्रीति, परमारथ, स्वारथ को नहीं जानता। सुग्रीव से बात करते हुए श्रीरामचन्द्र ने मित्र के स्वरूप और कर्त्तव्यों का इस प्रकार से निर्देश किया है—'सुग्रीव! जो लोग मित्र के दुःख में दुःखी नहीं होते, उनको देखने से भी पाप लगता है। मित्र वह रज होता है, जो अपने पहाड़ जैसे दुःख को भी रज के समान जानता है और मित्र के रज के समान दुःख को भी पर्वत के समान जानता है। जिनके सहज भाव इस तरह के नहीं होते, उनसे मैत्री करना व्यर्थ है। मित्र का कर्त्तव्य होता है कि वह अपने मित्र को कुपथ से हटाकर सुपथ में लगाये, मित्र के गुणों को प्रकट करे और दोषों को छिपाये, किसी वस्तु के लेने-देने में शङ्का न करे, अपने बल के अनुसार सदा मित्र का हिताचरण करे, विपत्तिकाल में सौगुना अधिक स्नेह करे। श्रुति, सन्त मित्र का यह गुण बतलाते हैं। बहुत लोग सामने तो बहुत मीठी-मीठी बात बनाया करते हैं, पीछे मन में कुटिलता और अहित की भावना बनी रहती है। जिसका चित्त साँप की गति के समान कुटिल होता है, ऐसे कुमित्र को छोड़ देने से ही कल्याण होता है। सेवक शठ हो, राजा कृपण हो, नारी कुत्सित हो, मित्र कपटी हो, तो इन्हें शूल के समान ही समझना चाहिए। (सिद्धान्त ६।१६)

आस्तिकवाद और विश्वशान्ति

"असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥"

समस्त विश्व का अधिष्ठानभूत परब्रह्म परमात्मा नहीं है, परलोक नहीं है तथा उसकी प्राप्ति का साधन धर्म एवं तद्बोधक प्रमाणभूत शास्त्र नहीं है ऐसा समझनेवाला व्यक्ति स्वयं असत् हो जाता है। उसके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार की समस्त चेष्टाएँ पशुओं की चेष्टाओं के समान ही होती हैं। उसके लिए पशुता एवं मानवता में कुछ भी भेद नहीं रह जाता, क्योंकि आहार, निद्रा, भय और मैथुन यह सब तो मनुष्यों के समान ही पशुओं में भी होते हैं, धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जो कि मनुष्य को पशु से विलक्षण सिद्ध करती है। यदि ईश्वर एवं धर्म की भावना मनुष्य में न हुई, तब तो वह भी पशुतुल्य ही है। इतना ही क्यों, वह तो पशु से भी निकृष्ट कोटि में परिगणित होता है। इसीलिए महानुभावों ने उसे शृङ्गपुच्छविहीन पशु कहा है—'सो नर पशु बिनु पूंछ विषाना'। मशक और मक्षिका आदि के उपद्रवों को दूर करने में पुच्छादि से पशु को सहायता मिलती है, परन्तु शृङ्गपुच्छविहीन पशु को अधिकाधिक सन्ताप ही सन्ताप रहता है। इसी तरह धर्मविहीन मनुष्य की स्थिति होती है।

परमात्मतत्त्व का अस्तित्व निश्चित रहने पर ही उसकी प्राप्ति की रुचि एवं उत्कण्ठा हो सकती है और तभी धर्म का अनुष्ठान और

पाशविक उच्छृङ्खलता मिटाने का प्रयत्न हो सकता है। धर्मानुष्ठान से ही सांसारिक उन्नति भी हो सकती है। साम्राज्य, स्वाराज्य, धन धान्यादि सभी सुख एवं तत्सामग्रियाँ धर्म के ही फल हैं। धर्म के न रहने पर वे कुछ भी नहीं मिलतीं। ऐसी स्थिति में प्राणी तृण के समान नगण्य, अतएव असहाय हो जाता है। जबतक प्राणी में कर्तव्या-कर्त्तव्य, हेय-उपादेय, धर्म-अधर्म और आत्मा-अनात्मा की विवेकबुद्धि रहती है, तभीतक वह सच्चा पुरुष कहलाने का अधिकारी होता है। उक्त विवेकबुद्धि के सम्पन्न होने या नष्ट हो जाने पर पुरुष कहलाने का अधिकार भी नहीं रहता। अतएव बुद्धि के नाश से पुरुष का नाश कहा गया है—'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'। यों भी जैसी भावना से भावित मतिवाला प्राणी होता है, वैसी ही उसकी स्थिति हो जाती है। अतः 'नहीं है परमेश्वर', 'नहीं है ब्रह्म'—ऐसी भावनावाला व्यक्ति 'नहीं' ही जैसा हो जाता है। इसके विपरीत 'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धिवाला पुरुष सत् (सन्त) हो जाता है।

'सर्वाधिष्ठान परब्रह्मतत्त्व है' ऐसी बुद्धि होने से उसकी प्राप्ति के लिए धर्म एवं तद्बोधक शास्त्र का अवलम्बन करना होता है। तदर्थ पाशविक उच्छृङ्खल व्यापारों का परित्याग करना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अधर्म-परिवर्जन अवश्य होगा, जिससे शूकरकूकरादि योनियों की प्राप्ति नहीं होती। धर्म के सेवन से दिव्य योनियों की प्राप्ति होती है, ब्रह्मनिष्ठ होने से प्राणी ब्रह्म ही हो जाता है। 'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धि रखनेवाला अस्ति ही, सन्त ही हो जाता है। अतएव श्रुतिमाता ने आज्ञा की है कि 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः।' ईश्वर और परलोक में

विश्वास रखनेवाला व्यक्ति अत्याचार, अन्याय और अधर्म से डरता है। जब प्राणी साधारण व्यक्ति के सामने भी पाप करते हुए सङ्कोच करता है, तब सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, सब के हार्दिक भाव-कुभाव के भासक भगवान् से कौन से दोष एवं पाप छिपाये जा सकते हैं? इस दृष्टि से आस्तिकवाद ही विश्व में शान्ति एवं सुव्यवस्थापन कर सकता है।

पाणिनि ने "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" इस सूत्र से यह दिखलाया है कि

'अस्ति दिष्टं परलोक इत्येवं मतिर्यस्यासावास्तिकः,
नास्ति दिष्टं परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिकः।

परलोक है ऐसी बुद्धि जिसकी है, वह आस्तिक है। परलोक नहीं है ऐसी जिसकी मति है, वह नास्तिक है। किसी न किसी रूप में परलोक पर विश्वास करनेवाले लोग परलोक में अशान्ति,—दुःख न हो इसलिए पापों और अन्यायों से बचने का भाव अवश्य ही रखेंगे। मनु ने वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहा है—'नास्तिको वेदनिन्दकः।' फिर भी उपर्युक्त पाणिनिमत से मनु की उक्ति का विरोध नहीं है। परलोक होने न होने की कल्पनाएं यदि निराधार हैं, तब तो आस्तिक-नास्तिक शब्दों का अर्थ भी काल्पनिक ही होगा। अतः परलोकविषयिणी अप्रमात्मिका मति जिसकी है, वह आस्तिकाभास है। प्रमा-रूपा मति जिसकी है, वही आस्तिक है। परन्तु जब परलोक के स्वरूप एवं तत्प्राप्ति के स्वरूप में अनेक मतभेद उठते हैं, तब कौन माना जाय और कौन न माना जाय, यह एक कठिन समस्या है। यदि इस विषय के सभी ग्रन्थ या ग्रन्थकार सर्वज्ञ समझे जाँय, तो मतभेद क्यों? यदि कोई ही सर्वज्ञ

हैं, तो 'कौन सर्वज्ञ कौन अल्पज्ञ' इसका निर्णय कैसे हो ? अतः अनादि जीव, जगत् पर शासन करनेवाले अनादि परमेश्वर की शासनपद्धतिरूप अनादि वेदों को ही मुख्य प्रमाण मानना उचित है। उनको संसार के सभी ग्रन्थों से प्राचीन आज भी माना जा रहा है। वैदिकों की दृष्टि से वेद अपौरुषेय हैं, अतः भ्रम-प्रमादादि पुरुषाश्रित दोषों से उन्हें दूषित नहीं कहा जा सकता। वे सहजश्वास के समान बुद्धि एवं प्रयत्न की अपेक्षा नहीं करते, अतएव अकृत्रिम हैं। उन्हीं से सच्चे परलोक एवं उसकी प्राप्ति के साधनों एवं प्रतिबन्धों को ठीक ठीक जाना जा सकता है। उनको न माननेवाला ठीक परलोक नहीं समझ सकता। अतः वेद का सम्मान करनेवाला आस्तिक और उन्हें न माननेवाला नास्तिक होता है।

सभी व्यक्तियों, समाजों एवं राष्ट्रों को जबतक हृदय से परलोक का भय और ईश्वर का डर न होगा, तबतक अवश्य ही उन में सङ्घर्ष रहेगा। दूसरों के क्षेत्र, वित्त, कलत्र, भवन, हस्ति, अश्व और रथ आदि आनन्दसामग्रियों को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। गिरोह बनाकर उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करके उनके छीनने का प्रयत्न होना भी स्वाभाविक है। इन्हीं भावनाओं से साम्यवाद, समाजवाद आदि की सृष्टि होती है। परन्तु आस्तिकवाद की यही विशेषता है कि वह सभी प्राणियों को अपनी अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रखता है।

धर्मभावना से मजदूर, मिल्मालिक, किसान, जमीन्दार, उत्तम, मध्यम और निम्न सभी श्रेणियों के सभी प्राणियों के लिए शान्ति, सन्तोष के साथ अपनी अपनी उन्नति का मार्ग खुला रहता है। धर्मसम्बन्धहीन सम्पूर्ण वाद सङ्कीर्णता के ही कारण होते हैं। किसी में धनिकों के ही लिए

स्थान है, मजदूरों तथा किसानों को नहीं, किसी में मजदूरों को ही स्थान है, पूंजीपतियों को नहीं। परन्तु आस्तिकवाद में धर्म के बन्धन में सभी बँधे होते हैं, अतः कोई भी किसी पर ज्यादती नहीं कर सकता, इसीलिए महर्षियों ने सर्वशासक उग्र क्षत्र का भी शासन करने के लिए धर्म की आवश्यकता समझी। सैनिकशक्तिसम्पन्न सम्राट् किंवा महाबलवान् कोई अन्य व्यक्ति ही निर्बल प्राणियों के वित्तों एवं सुन्दर कलत्रों पर आक्रमण कर सकता था, परन्तु एक धर्म का ही भय उन्हें रोकता है।

आज भूखों के गिरोह पूंजीपतियों और राजाओं से धन छीनने के लिए आन्दोलन रचते हैं। पूंजीपति मर मिटना पसन्द करते हैं, परन्तु कुछ देना नहीं चाहते। पहले की स्थिति विलक्षण थी। धनिकवर्ग सम्पूर्ण सम्पत्ति को परमेश्वर की धरोहर मानते थे, अपने को केवल रक्षक या कर्मचारी मानते थे। धर्मरक्षा, राष्ट्ररक्षा एवं भूखों के कष्ट दूर करने में अपनी सम्पत्ति का उपयोग कर अपने को धन्य धन्य समझते थे। इतना ही क्यों, गरीब से गरीब भी भोजन के समय अतिथि की प्रतीक्षा करते थे, अतिथि मिलने पर आदर से सत्कार करते थे, न मिलने पर खिन्न होते थे। अतिथि पाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे, घर में धन होने पर बहुदक्षिण यज्ञों के अनुष्ठान का प्रचार रहता था। रन्तिदेव विकट क्षुधा से पीड़ित रहकर भी श्वपाक एवं श्वान तक का आतिथ्य करने से उपरत नहीं हुए। स्वयं भूखे रहकर भी अन्न से दुःखी लोगों के क्षुधादि कष्टों को मिटाया जाता था। प्राणिमात्र दूसरों के कष्ट दूर करने तथा सुख शान्तिसम्पादन के लिए व्यग्र रहते थे। सभी दूसरों को देना ही

चाहते थे, लेने से सभी बचना चाहते थे।' प्रतिग्रह में समर्थ होकर भी लोग प्रतिग्रह से बचने का ही प्रयत्न करते थे। आज भी ग्रामीण, खानदानी शूद्र तक दूसरे की वस्तु लेने में हिचकता है। वह अपनी गाढ़ी कमाई के ही धन का उपयोग करना चाहता है, बिना परिश्रम सेंतमेंत की वस्तु तथा बिना हक का वस्तु को हराम की वस्तु समझता है। सब जीव परमेश्वर के अंश, परमेश्वरस्वरूप ही हैं इस तरह की भावना से सर्वत्र सहज भ्रातृभाव या परमात्मभाव फैला रहता था। देनेवाले सर्वथा देने का प्रयत्न करते थे, लेनेवाले बचते थे। संसार में 'गृहाण गृहाण–नेति नेति' 'ले लो–नहीं नहीं' का कोलाहल मचा रहता था।

आज ठीक उसके विपरीत 'देहि देहि–नेति नेति' 'दो दो–नहीं नहीं' का कोलाहल मच रहा है। भूखों का गिरोह कहता है–हम लेंगे और अवश्य लेंगे, लूट-खसोटकर, मार काटकर लेंगे ही। पूँजीपति कहते हैं—हम चाहे मर जाँय, जहन्नुम में चले जाँय, परन्तु कुछ भी नहीं देंगे। आस्तिकवाद में सम्राट् लोग भी राजसूय, अश्वमेध, सर्वस्वदक्षिण आदि यज्ञों में अपने धन को प्रायः वितरण करते थे। यज्ञों में धन, रत्न, वस्त्र, अन्नादि आदिकों का इतना दान होता था कि याचक तृप्त हो जाते थे। रामचन्द्र के यज्ञ में इतना दान हुआ कि महाभागा वैदेही के हाथ में केवल सौभाग्यचिह्न लाल डोरा ही रह गया। इस रूप से आनश्यक शास्त्रविरुद्ध सभी वाद आस्तिकवाद में आ जाते थे।

जबतक शुद्ध आस्तिकवाद चलता रहता है, तबतक राजा, प्रजा और अमीर, गरीब सभी एक दूसरे का हित चाहते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं, दूसरों की वस्तुओं को देखकर उन्हें ईर्ष्या नहीं होती। वे जानते

हैं कि बिना हक और बिना परिश्रम के दूसरों की सम्पत्ति को लोभ की दृष्टि से देखना पाप है। अन्यायपूर्वक दूसरों का माल हराम का माल है, संसार में सब अपने अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगते हैं। अपने कर्मों से ही कोई सम्राट्, स्वराट्, धनी-मानी होता है, अपने कर्मों से ही कोई दीन दरिद्र एवं रोग-दोषपरिप्लुत होता है। कर्मों से ही कोई शूकर, कूकर, कीट और पतङ्ग बनते हैं, कोई देवता, दानव और मानव होते हैं। आस्तिक दरिद्र यह सोचता है कि अपने कर्मों से ही हम दरिद्र हैं, अपने कर्मों से ही अमुक अमुक लोग धनवान् हैं। किसी के धन पर, सुख सामग्री पर ईर्ष्या करना पाप है, उसे लोभ की दृष्टि से देखना अनुचित है। धन की इच्छा से धर्म और उपासना में ही लगना उचित है।

लोक में भी न्याययुक्त मार्ग से लक्षपति, कोटिपति, अर्बपति आदि बनने में कोई भी आपत्ति नहीं रहती, परन्तु चोरी, डाका या अन्याय से लक्षपति बनने की भावनावाले प्राणी को हवालात की हवा खानी पड़ती है। इसी तरह सन्मार्ग से धनवान् होने में कोई बाधा नहीं है, परन्तु विमार्ग से धनी बनने का प्रयत्न कभी भी इष्ट नहीं होता।

एक पिता के चार पुत्र हैं। पिता ने अपनी सम्पत्ति चारों के लिए बराबर विभक्त कर दी। उनमें से कोई पुरुषार्थ द्वारा बढ़कर कोटिपति बन जाता है और कोई प्रमाद से कौड़ीपति हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुनरपि कौड़ीपति का कोटिपति से धन लेकर उसकी बराबरी का प्रयत्न करना सिवा ईर्ष्या के और कुछ भी नहीं।

वस्तुतः धर्म के ह्रास हो जाने पर सर्वदा ही सङ्घर्ष होते हैं और

समाज को अनेक शासनपद्धतियाँ ढूँढनी पड़ती हैं। यह एक तरह का चक्र चल पड़ता है। पूँजीपतियों और राजाओं में धर्मभावना की कमी होने से इन्द्रियों पर स्वाधीनता नहीं रह जाती, भोग-विलास में अधिक आसक्ति होने से शरीर एवं इन्द्रियों में निर्बलता आ जाती है। मन और बुद्धि भी उचित सङ्कल्प तथा निर्णय में समर्थ नहीं रह जाते। धर्म-बुद्धि की कमी से संयम की भी कमी हो जाती है। सम्पत्ति को भगवान् की धरोहर समझकर जनता के हित में उसका उपयोग न करके अपने भोगों में लगाया जाता है। ऐसी स्थिति से राजा-प्रजा और अमीर-गरीब में मनमुटाव होने लगता है। भोगासक्त होने से निर्बल अमीरों में सन्तानों की कमी होने लगती है। निम्नश्रेणी के अयोग्य दत्तकों में प्राचीन परम्परा का उदारभाव न होने से वे और भी न्याय और संयम की उपेक्षा करके भोगासक्त होते हैं। प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिए ही वेन के शरीर को मन्थन करके पृथु के आविर्भाव का प्रयत्न किया गया, किसी दूसरे को शासनसूत्र नहीं दिया गया था।

अस्तु, इस तरह भोगासक्त निर्बल धनपतियों में सन्तानों की कमी और गरीबों में सन्तानों की अधिकता हो जाती है। धर्मविमुख अमीर गरीबों से न्याय अन्याय का विचार न करके धनसंग्रह करते जाते हैं। उधर अधिक सन्तानवाले गरीब भूखों मरते हैं, वस्त्र और मकानों के लिए तरसते हैं। संसार का धन सिमटकर थोड़े से अमीरों के हाथ में आ जाता है। दुनिया का बहुत बड़ा गरीब मानवसमाज अन्न, वस्त्र एवं मकान आदि से विहीन होकर दुःख पाने लगता है। उस समय बड़े लोगों की अश्व, रथ, गज, धन, धान्यादि सुख-सम्पत्तियों को देखकर

समाज में ईर्ष्या फैल जाती है। गरीबी के कारण लोगों में धैर्य छूट जाता है। दरिद्रता एवं दीनता के कारण धर्मभावना कमजोर हो जाती है। आवश्यक जीवननिर्वाहसामग्री न मिलने से चोरी, व्यभिचार की मात्रा भी बढ़ने लगती है। फिर वे सहज धर्मभीरु गरीब भी दूसरों की सम्पत्तियों को छीन लेने के लिए गिरोह बनाकर आन्दोलन करने लग जाते हैं।

धर्मविहीन अमीर यह नहीं समझते कि सम्पत्ति का परमफल यही है कि उससे धर्म, समाज तथा राष्ट्र की रक्षा की जाय, भूखों एवं दुःखियों का दुःख मिटाया जाय। ग्राम के चारों ओर आग लगने या महामारी फैलने से एक घर सुख की नींद नहीं सो सकता। जब समाज एवं राष्ट्र के लोग भूखों मरते हों, तो एक कोटिपति का सुख खतरे से खाली कदापि नहीं रह सकता। दोनों के सङ्घर्ष में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद मिट जाता है और फिर कुछ दिन के लिए साम्यवाद चल पड़ता है। राजा प्रजा, अमीर गरीब सब की समानता का प्रयत्न होता है। उसके विरोधियों का सर्वनाश किया जाता है। परन्तु सृष्टि की विचित्रता अनिवार्य है। प्राक्तन धर्म एव अधर्म की विचित्रता से प्राणियों तथा उनके सुख दुःख एव तत्सामग्रियों में भी विचित्रता होती ही है। सब की समान बल, बुद्धि, योग्यता न होने से काम में भेद, फिर दाम और आराम में भी भेद हो ही जाता है। इञ्जीनियर, मजदूर, न्यायाध्यक्ष, सेनापति, सैनिक आदिकों की विषमता के बिना किसी भी राष्ट्र का शासन, सुव्यवस्थापन, संरक्षण हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में सर्वत्र काम, दाम, आराम में भेद हो ही जाता है। फिर निश्चय किया जाता है कि लोकमत के अनुसार योग्य

शासक एवं प्रबन्धक निश्चित किये जाय और उनके दाम, आराम का भी कुछ अधिक ध्यान रखा जाय और उनका सालभर में या तीन साल में परिवर्तन होता रहे। जो कोई बहुमत से योग्य समझा जाय, उसे शासक या प्रबन्धक बनाया जाय और लोकसम्मत व्यक्ति को ही उच्च पद दिये जाँय। बस इसी दृष्टि से इसे लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र या किसानों तथा मजदूरों का राज्य कहा जाता है।

कुछ दिनों बाद समाज के विद्वानों का यह समझ में आने लगता है कि अल्पज्ञ लोकमत से योग्य व्यक्ति का निर्णय नहीं होता कुछ प्रचारक, व्याख्याता, प्रवक्ता एवं पत्र पत्रिकाओं से ही लोकमत बनाया जाता है। लोक का निजी मत क्या है इसका निर्णय नहीं हो पाता। लोक की कोई निश्चित स्थिति नहीं। कभी का लोकमत ईसा जैसे महापुरुषों को फाँसी देने में विश्व का कल्याण समझता है, कभी का लोकमत उनके पूजन में कल्याण समझता है। कभी ईश्वर और धर्म के सम्मान में कल्याण समझा जाता है, कभी का लोकमत उनको काला मुँह करके निकालने की घोषणा करता है। ऐसी स्थिति में लोकमत के आधार पर वास्तविक लोकहित का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव चुनावों में राष्ट्र का कितना धनक्षय होता है, कितने ही व्यक्तियों की प्राणों की भी बाजी लगानी पड़ती है। अतः विशेषज्ञों के मत के सामने लोकमत का मूल्य उसी तरह अकिञ्चित्कर है, जैसे रूप के विषय में एक नेत्रवान् के सम्मुख अरबों, खरबों नेत्रविहीनों का मत अकिञ्चित्कर होता है। यह सोच-समझकर ही कोई व्यक्ति अधिनायक बन बैठता है और वह बारबार चुनाव की पद्धति को मिटाकर कुछ विशेषज्ञों की सम्मति से

भिन्न प्रबन्धकों को नियुक्त करता है। यदि अधिनायक अनुकूल हुआ तब तो ठीक ही है, अन्यथा वह भी बिना नियामक (ड्राइवर) की मशीन है। अनियन्त्रित शक्तिसम्पन्न अधिनायक से राष्ट्र को वैसा ही खतरा है, जैसा कि वेन आदि सम्राटों से पूर्वकाल में हुआ था। परन्तु प्रजा की आराधना से यदि वह युक्त हुआ, तब तो अनुरक्त प्रजा उसका सम्मान करती है। अन्त में पुत्र पौत्रादिपरम्परा का भी राज्य पर अधिकार चल पड़ता है।

सर्वथा धर्मात्मा एवं आस्तिक द्वारा ही विश्व मे शान्ति एवं सुव्यवस्था होती है। अतः फिर से जब आस्तिकवाद, ईश्वरवाद सम्मानित होता है और पक्षपातशून्य अनादि, अपौरुषेय वेदों के अनुसार राजा प्रजा, अमीर-गरीब सभी अपने अपने धर्म को पालने लगते हैं, तब समाजहित, राष्ट्रहित एवं विश्व के हित की भावना स्वयं बन जाती है। अन्याय, अत्याचार, परोत्पीडन से जब अपने आप ही घृणा उत्पन्न हो जाती है, तब तो फिर सर्वत्र शान्ति ही शान्ति विराजने लगती है। उस स्थिति में अन्यायी एवं अत्याचारी को सताने का भाव नहीं रहता, किन्तु अन्याय, अत्याचार से उसका अहित होगा, इसलिए उसके अन्याय, अत्याचार मिटाने के लिए ही उसे दण्ड दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि संसार में अत्याचार, अन्याय मिट जाता है और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रहती। फिर तो दण्ड केवल संन्यासियों के हाथ में ही रह जाता है—'दण्ड यतिन कर भेद जहँ'। तभी सच्ची शान्ति व्यवस्थापित होती है। चराचर जगत् सब कुछ परमेश्वरस्वरूप या सब कुछ परमेश्वर का अंश है इस भावना के बन जाने पर ही सच्चे साम्यवाद

की भी स्थिति होती है। हां, केवल व्याख्यान में कहने की बात न हो, हो मन की सच्ची भावना। आस्तिकवाद होने से ही प्रजा का न्यायपूर्वक नियन्त्रण हो सकता है, अन्यथा कैसा भी शासनविधान क्यों न हो, उसके कार्यान्वित करने में गड़बड़ी हो ही सकती है।

राजकीय कर्मचारी कहांतक किसके पीछे रहकर नियन्त्रण कर सकेंगे? फिर धर्मभावना न रहने पर राजकीय कर्मचारियों के भी न्यायान्याय देखने के लिए पृथक् पृथक् पुरुषों को नियुक्त करना पड़ेगा, फिर उनके नियन्त्रण के लिए भी इसी तरह व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि कहीं भी आस्तिकता न होगी, तो किसी भी अभियोग का सच्चा साक्षी ही न मिल सकेगा। न्यायाध्यक्ष साक्षी को धर्म की याद दिलाकर उससे कहता है—'यमो वैवस्वतो राजा हृदि सर्वस्य धिष्ठितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः'। वैवस्वत राजा यम सब के हृदय में विराजमान हैं, यदि उनके साथ विवाद न हो अर्थात् साक्षी उनकी ओर से सच्चा हो, तो उसे गङ्गा और कुरुक्षेत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहती। अभिप्राय यह है कि साक्षी को न्यायाध्यक्ष के सामने सच्चाई के साथ ही बोलना चाहिये। तस्मात् यह स्पष्ट है कि आस्तिकवाद से ही विश्व में शान्ति, सुव्यवस्था एवं न्याय की स्थापना हो सकती है। अमीर-गरीब, राजा प्रजा सभी अपना कर्तव्यपालन भी तभी दत्तचित्त होकर कर सकते हैं और आस्तिकवाद में ही सन्तुष्ट रह सकते हैं। (मा॰ सन्मार्ग ३।७)।

प्राणी की गति और आगति

उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आचार्य द्वारा ब्रह्मतत्त्व का उपदेश पाकर भी अवि-रक्त प्राणी कृतार्थ नहीं होता। अतएव सम्पूर्ण साधनों में वैराग्य ही परम साधन है। जन्म जन्मान्तर के पुण्यपुञ्ज और महेश्वर की मङ्गलमयी अनुकम्पा से ही विचार द्वारा शुद्ध वैराग्य का उदय होता है।

उपनिषदों के भावानुसार यदि जीवात्मा की गति-आगति पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि अग्निहोत्रियों द्वारा दी गयी आहुति के सूक्ष्मांश से युक्त लिङ्गशरीरावच्छिन्न आत्मा स्वर्ग जाता है। अग्नि-धूमादि द्वारा स्वर्ग पहुँचकर और सोमात्मक शरीर प्राप्तकर वह सत्कर्मानुसार इच्छामय नन्दनवन, कल्पवृक्ष, कामधेनु, माला, चन्दन, दिव्यशय्या, वनिता, भोजन-पानादि प्राप्त करता है। वहाँ चान्द्रमस या सोमात्मक ही उसका शरीर होता है। स्वर्गफल भोगने के बाद स्वर्ग सुख की समाप्ति का सन्देश सुनकर उसका सोमात्मक शरीर शोक-ताप से वैसे ही द्रवीभूत हो जाता है, जैसे आतप से वर्फ। फिर वह स्वर्ग से प्रच्युत होकर पर्जन्य बनता और पर्जन्य से वृष्टि द्वारा भूमि में आकर व्रीहि, यवादि अन्न बनकर पुरुष के देह में जाकर रेत होकर मातृगर्भ में प्रविष्ट होता है। पापी प्राणी भी नरकादि नानाविध यातनाओं को भोगकर नानायोनियों को प्राप्त करने के लिए अन्नादि में संश्लिष्ट होते हैं।

जिस प्रकार रज्जु से बंधा हुआ घट कूप में प्रवेश करता है, उसी

प्रकार पाप-पुण्यमय कर्मों से बद्ध जन्तु पिता के देह में प्रवेश करता है। राजपुरुषों द्वारा जैसे अपराधी लौहमयी 'कपकड़ी-बेड़ी आदि शृङ्खलाओं से बांधकर कारागार में डाल दिया जाता और वह धन-धान्य एवं बन्धुओं से विहीन कर दिया जाता है, वैसे ही कर्ममयी शृङ्खलाओं द्वारा नियन्त्रित जन्तु धन-धान्य तथा बन्धुबान्धवों से रहित होकर विवशता के साथ पिता के शरीर में प्रवेश करता है। पिता का शरीर उसे अन्धकूप के समान ही प्रतीत होता है। साँपों के सदृश अत्यन्त भयङ्कर कीटगणों से आवृत वह जीव जठराग्नि से दन्दह्यमान होकर उसी प्रकार दुःखी होता है, जिस प्रकार राजपुरुषों द्वारा कारागार में अपराधी। पिता का प्राण उसका सम्यक् शोषण करता है। जैसे किसी महापर्वत में निपतित रुग्ण एवं दुर्बल प्राणी को भयङ्कर झञ्झावात से दुःख होता है, वैसे ही पिता के देह में पड़े हुए निर्बल जन्तु को पिता के प्राणों द्वारा उद्वेग होता है। क्षुधा, पिपासा से व्याप्त पिता के शरीर में मुख द्वारा जीव को अन्नरूप से जाना पड़ता है। इसके पहले भी पर्जन्य से जल, जल से अन्न बनने में बड़ी कठिनाइयां होती हैं। कभी-कभी अन्नोत्पादन के अयोग्य पाषाणादिमय भूप्रदेशों में निपतित होने से उसे अन्नभाव प्राप्त नहीं होता। उस समय पुनः सूर्यरश्मियों द्वारा सूर्यमण्डल में जाकर पर्जन्य आदि क्रम से उसे जलभाव की प्राप्ति होती है। अन्न बन जाने पर भी सन्यासी, ब्रह्मचारी, नपुंसक तथा विधवा के मुख में जाने पर देहप्राप्ति दुर्लभ होती है। इसीलिए श्रुतियों ने जल, अन्न, रेत आदि मार्ग से आत्मा का निकलना बड़ा दुस्तर कहा है। अस्तु, अन्न बनने में भी आतप, वात, कण्डन, न्पेषण, अग्निपाक द्वारा अन्नसंश्लिष्ट जीवात्मा को अत्यन्त कष्ट होता है।

रस, रक्त, वीर्यादिसम्पत्ति में उसे अनन्त, अपार कष्टों का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में एक प्रकार से काल ही पिता होता है और लौकिक पिता 'माता' होता है। 'मुख ही योनि' और क्षुधा पिपासा ही गर्भधारणेच्छा होती है। काल और पिता के सम्बन्ध से ही अन्नभावापन्न जीवात्मा पितृरूप माता के गर्भ में प्रवेश करता है। इसीलिए गर्भ-दुःख के समान ही पिता के शरीर में जीवात्मा को दुःख होता है। अन्नभावापन्न जीवात्मा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पहले पिता के मुख में जाकर दन्तों के द्वारा विचूर्णित होते और मुखगन्ध से उसके प्राण व्याकुल हो जाते हैं। अन्ततः वह किसी तरह पिता के कण्ठ में पहुँचता है। कण्ठ में श्लेष्मा से आविल सङ्कीर्ण मार्ग में पहुँचकर वह व्याकुल हो जाता है। शक्ति न होने से अत्यन्त दुःखित जन्तु क्षुद्र कीट के समान वैसी चेष्टा करता है, जैसे गरुड़ के मुख में पहुँचकर छूटने की इच्छा से मछलियाँ छटपटाती हैं। कण्ठ से छुटकारा पाना योनियन्त्र से निकलने के समान होता है। कण्ठ से छुटकारा पाकर वह विष्ठारस के समान आकारवाले पित्त से युक्त हृदय में जाता है। जैसे कोई व्यक्ति त्वचा निकालकर अत्यन्त तप्त तैल में डाल देने से कष्टी हो, वैसे ही श्लेष्माशय कण्ठ से विमुक्त होकर पित्ताशय हृदय में पड़ने से जन्तु दुःखी होता है। पित्त एवं प्राणाग्नि के सन्ताप से तप्त अन्नभावापन्न जीवात्मा मर्कट के समान भागा भागा फिरता है। पित्त के साथ ही वह कभी ऊपर, कभी नीचे तो कभी तिर्यक् भटकता है। जैसे तप्त तेल में पड़े हुए जल की स्थिति होती है, वैसी ही पित्ताशय में स्थित जन्तु की दशा होती है। पित्ताशय के अनन्तर पुनः मारुत में गमन होता है। वायु के द्वारा इस अन्न का विकिरण होकर

जाठराग्नि में निपात होता है। पुरीतति नाड़ी-रूप दुर्गमध्य में स्थित होकर पुनः वह नाभिरूप पर्वत पर आरूढ़ होता है। जैसे मसूला आदि द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग के छिन्न भिन्न होने पर प्राणी विह्वल होता है, वैसे ही इस अवस्था में प्राणी दुःखी होता है। महा झञ्झावात में पड़ने से नगण्य तृण की जो दशा होती है, वाताशय में जाने से जन्तु की भी वही दशा होती है। वह वात (वायु) अग्नि के समान अत्यन्त उष्णस्पर्श और अत्यन्त रूक्ष होता है।

कुछ काल वाताशय में स्थित होकर फिर उसका पाक के लिए जाठराग्नि में सन्निवेश होता है। उस जाठराग्नि में अत्यन्त पाचित होने पर भी वह मरता नहीं। पाक के पश्चात् उस आराम संश्लिष्ट अन्न के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भाग होते हैं। अधम भाग पुरीष बन जाता और मध्यम भाग त्वचा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि रूप को प्राप्त होता है। एक एक रूप के प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। पहले अन्नरस बनकर समान प्राण के अनुग्रह से उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियों में प्रवेश होता है। केशाग्र के शतभाग से भी अत्यन्त सूक्ष्म सहस्रों नाड़ियाँ देह में हैं। अन्नरस बनकर उन नाड़ियों द्वारा सम्पूर्ण देह-व्यापी त्वचा में उस अन्नरस का सञ्चार होता है। इस एक एक अवस्था में अत्यन्त दुस्तर दुःख होता है। नाड़ियों में प्रवेश और उनसे निर्गम, त्वचाओं में पहुँचना आदि एक एक अवस्था मरण के समान दुःखदायिनी है। त्वचा से पुनः रक्तभाव की प्राप्ति होती है। लाक्षारस के समान रक्त ऐसा भयावह होता है कि बहुत से जीवों को उसके दर्शनमात्र से मूर्छा आ जाती है। यही रक्त घनीभूत होकर शाल्मली-कुसुम के समान मांस

बन जाता है। पश्चात् मेद बनता है। बुद्धि और प्राण के सम्पर्क से मांस द्वारा घृत के समान उत्पन्न होनेवाला तत्त्व मेद है। उस मेद के द्वारा शरीरगृह के स्तम्भभूत अनेक अस्थियाँ उत्पन्न होती हैं। अस्थियों के भीतर सारभूत मज्जा बनती है। जिस समय पिता का शरीर कामवन्हि से सन्तप्त होता है, उस समय शरीरव्यापिनी मज्जा अपने सारभूत तत्त्व शुक्र का त्याग करती है। मस्तक से लेकर पादतलपर्यन्त अङ्ग प्रत्यङ्ग से मज्जा-रस निकलता है। वह इतना उत्कट और दुस्सह होता है कि उसे पिता सहन नहीं कर सकता। गर्भधारण के दसवें मास में गर्भिणी के लिए गर्भ जिस तरह दुस्सह होता है, उसी तरह मज्जासाररूप पिता का गर्भ भी उसके लिए दुस्सह हो जाता है। जैसे आर्द्र वनस्पति अपने कोटर में अग्नि की सत्ता सहन नहीं कर सकता, वैसे ही जनक उस गर्भ को सहन नहीं कर सकता। जिस तरह यन्त्रकृत अभिचार से मन चञ्चल हो उठता है, उसी तरह कामाग्नि के ताप से पुरुष का मन चञ्चल हो जाता है। वही मज्जा रस 'रेत' या कामाग्नि है।

वह रेतस् पारदरस के समान चञ्चल होने से कहीं भी स्थिर नहीं रहता। जिस तरह विष आदि द्वारा श्लेष्मा के उद्रेक से कटुनिम्ब भी मधुर प्रतीत होता है, उसी तरह कामोद्रेक से नारीदेह में सुख प्रतीत होता है। जैसे मद्यपान या मदिरादि-पान से उन्मत्त मन में स्वादरहित पदार्थ में भी स्वाद भासित होता है, वैसे ही निकृष्ट वस्तु में भी उत्कृष्टता का भान होता है। दुर्गन्धयुक्त श्लेष्मा, पूत्कार और लालादि से पूर्ण नारीमुख में भी कामी को चन्द्रमा का भान होता है। मलपूर्ण नेत्रों में कमलदल की प्रतीति, होती है। नरक-समुद्र में ले जानेवाले नेत्रों के कटाक्ष फूल के समान

प्रतीत होते हैं। श्लेष्मा के मार्ग नासिका में भी कामी को मधुरता ही प्रतीत होती है। पीपु के समान अधर भी कामी को मधुर ही प्रतीत होते हैं। तम के समान केश आनन्दकारी एवं मांसग्रन्थि स्तन में अमृतपूरित हेमकुम्भ की कल्पना होती है। मांसल या निर्मांस उदर स्वरूप-उदर के समान विष्ट-मूत्र का आलय है। फिर भी वह कामप्रेत से आर्त कामुक के आनन्द का कारण होता है। इसी तरह पापुरूप नदी के तट स्वरूप विट्आदि से अनुलेपित नितम्ब तथा जघन रक्त-मांसमय होने पर भी कामी को रम्य प्रतीत होते हैं। भगन्दरवण के समान मूत्रगन्ध से दूषित योनि प्राणी के लिए स्वर्ग के सदृश प्रतीत होती है। इसी तरह कामी को अपने ही कामदोष से नारी के उरू आदिकों में स्वर्ग-रम्यात्मक की प्रतीति होती है। जैसे पुरुष को नारी में वैसे ही नारी को पुरुष में रम्यता, मधुरता प्रतीत होती है।

इस तरह कामाग्निजन्य पित्त के कुपित होने पर कामी धर्म, अधर्म, दिन-रात कुछ भी नहीं जानता। सुहृद्, मित्र आदिकों को देखता सुनता हुआ भी अन्ध और बधिर हो जाता है। घ्राण से दुर्गन्ध का अनुभव करता हुआ भी मायारोगी के समान कुछ नहीं जानता। पण्डित भी मूढ़ हो जाता है। पाद पाणिमान् होने पर भी कुणी और पङ्गु के समान हो जाता है। सम्राट् भी मृतवत्, भूतिमान् भी दरिद्रवत्, प्रभु होकर भी काम के कारण भृत्यवत् हो जाता है। बुद्धिमान् भी दुर्बुद्धि, सुमना भी निर्मना, साहङ्कार भी निरहङ्कारवत् हो जाता है। वीर्यरूप गर्भ को धारण करनेवाला, कामज्वर के वशीभूत नर इस प्रकार की विगर्हित शोच्यतम अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

कामाविष्ट नर नेत्रों से ललना का ही पान करता है, कानों से उसी को सुनता है, प्राण से उसी को सूँघता है, रसना से उसी का रसास्वादन करता है, त्वचा से आदरपूर्वक उसी का स्पर्श करता हुआ सुखकरी वाणी बोलता है। देवता और गुरु के समान उसी का अनुगमन करता है। मन में इष्टदेवता के समान उसी का स्मरण और बुद्धि से भी उसी का ध्यान करता है। विष्णु के समान चित्त से उसी का चिन्तन करता है। योगारुरुक्षु विशुद्धबुद्धि ज्ञानी के समान उसी को अपनी आत्मा भी मानने लगता है। अपमानित होकर भी उसका ही सम्मान करता है। वह स्त्री भी क्रीड़ा मृग के समान उस कामुक को दीन बन्दर की तरह नचाती है। कभी विविध उपचारों से उसका सम्मान करती है, तो कभी दुस्सह कटु बचनों से उसकी भर्त्सना भी करती है। कभी कहती है—'नाथ! आप हमारे देह, प्राण सब से अधिक प्रिय हैं।' कभी कहती है—'तुम मेरे कौन हो?' कभी आज्ञापालन करती तो कभी वचन की रत्तीभर भी परवाह नहीं करती। कोई कोई पुरुषान्तर से आसक्त होकर सोते समय पति को यमपुर पहुँचा देती है। इसी तरह कोई अपने प्रतिकूल पुरुषों को मरवा भी देती है। अच्छे अच्छे पुरुषों को भी बड़ी बड़ी भरी सभाओं में नारी उपहासास्पद बना देती है। पिता, भ्राता, पुत्र तथा बहुश्रुत ब्राह्मण को भी स्वल्प कारण से मार देती है। नारी के सङ्ग से इस जन्म में निश्चित दुःख और परलोक में नरक होता है। आसक्त नारी यदि स्वकीया है, तो अन्य स्त्रीसमागमादि से कुपित होकर विषादि द्वारा वह पति को मार देती है। यदि परकीया है, तो उसके पति या भ्राता आदि द्वारा जार का मरण सम्भव है। यदि विरक्त स्वकीया नारी है, तो कामज्वर से आतुर कामुक की

भर्त्सना या उपेक्षा करके हनन करती है, या पुरुषान्तरगमन द्वारा दुःख का कारण बनती है। यदि परकीया है, तो बलवान् पति या अन्य द्वारा मरवा देती है। इस तरह स्वकीया, परकीया, आसक्ता, विरक्ता, सब तरह की नारियों में महान् दोष हैं। जैसे कामी पुरुष के लिए स्त्री दुःखकरी है, वैसे ही कामिनी नारी के लिए पुरुष भी दुःखकर है।

वस्तुतः काम ही दुःखकर है, नर-नारी कोई भी किसी के दुःख का कारण नहीं है ऐसा समझकर बुद्धिमान् को इस काम शत्रु का शीघ्र ही परित्याग करना चाहिये। सङ्कल्प से काम उत्पन्न होता है और गुणबोध से सङ्कल्प। दोषों के ज्ञान से गुणबोध का नाश होता है। तभी सङ्कल्पनाश और कामविजय हो सकता है। अतत्त्व में 'तत्त्वबुद्धि' रूप मोह के कारण ही जगत् में अन्धकार फैल जाता है। उसी से विभिन्न कामनाएँ और तृष्णाएँ उत्पन्न होती हैं। उस मोह के नष्ट होने पर निर्मूल पादप के समान काम क्षण में ही नष्ट हो जाता है। काम के नष्ट होने पर क्रोध भी नष्ट हो जाता है। काम या इच्छा का विघात होने पर ही द्वेष या कोप उत्पन्न होता है। इच्छा न रहने से क्रोध की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं रह जाता। विवेकरूप वह्नि के काम क्रोध के समूल नष्ट होने पर आनन्दात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। विवेकियों का कहना है कि 'हे काम, मैं तेरे मूल को जानता हूँ। तुम सङ्कल्प से उत्पन्न होते हो, सङ्कल्प के त्याग देने पर तुम मुझ में न हो सकोगे'।

उपर्युक्त विज्ञान से रहित, कामरूपी पिशाच से व्याकुल, सर्पदष्ट के समान प्राणी कुछ भी नहीं जानता। कामरूप ग्रह के आवेशवश उपस्थरूप सर्प के भक्षण से रेतःस्वरूप गर्भधारण के खेद से पितारूप गर्मी

उस रेतोरूप गर्भ का त्याग करना चाहता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग से निकला हुआ वह रेत दुग्ध से निर्गत मक्खन के समान सर्वशरीर का सार है। उसे धारण करने में असमर्थ वह (पुरुष) उसका नारीयोनि में त्याग करता है। जिस तरह भार से आतुर जन्तु भारत्याग से सुखी होता है, उसी तरह गर्भत्याग से गर्भी सुखी होता है। ग्रह से आविष्ट जन्तु जैसे ग्रहनिर्गम से सुखी होता है, वैसे ही गर्भत्याग से प्राणी सुखी होता है। अजीर्ण भोजन जिस तरह प्राणान्त आपदाओं को उत्पन्न करके निकलता है, उसी तरह रेत भी सम्पूर्ण बल को क्षीण करके निकलता है। जैसे अतिसार प्राणी के सर्वतेज का अपहारक होता है, वैसे ही रेतोनिर्गम भी बल तथा वीर्य का अपहारक होता है।

शरीर में रेत रहने पर उसी से 'ओज' नाम की 'अष्टमी अवस्था' उत्पन्न होती है, जिस ओज के द्वारा प्राणी तेजस्वी और दीर्घजीवी होता । रेत के सम्यक् अवरोध से वैरूपकारिणी जरा और मृत्यु पर विजय मिलती है, बल शीघ्र नष्ट नहीं होता ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, इहलोक-परलोक में कीर्ति होती है। रेत के अवरोध से योगाभ्यास द्वारा आकाश-गमनादि दिव्य सिद्धियाँ भी अनायास मिलती हैं।

जिस तरह यन्त्र में निपीड़ित इक्षुदण्ड निस्सार हो जाता है, उसी तरह वधूबाहु निपीड़ित पुरुष भी निस्सार हो जाता है। आत्मा के अप्रागल्भ्य के कारण आयु और बल के हेतु तेज को मायामोहित मूढ़ स्त्री में त्याग करता है। इस तरह योनि में रेत का त्याग ही जीवात्मा का प्रथम जन्म है।

योनिगत गर्भ की नानाविध अवस्थाएँ अनन्त दुःख और शोक का कारण होती हैं। पुरुष के गर्भ को स्त्री स्वयं धारण करती है, इसलिए उसका नानाविध उपचारों से सत्कार करना चाहिए। पुरुष के दुःखदायी रेतस्स्वरूप गर्भ को अपने में धारण करके यह पुरुष का परम उपकार करती है। गर्भरूप से गर्भी का ही स्त्री में प्रवेश होता है, अतएव 'जाया' पुरुष की जननी भी कहलाती है—'जायते पुनरूपेण पुमान् अस्या सा जाया'। गर्भिणी जिसे गर्भाधानकाल से लेकर अपने आर्तव रज के साथ एकता को प्राप्त रेत को अपने देह के समान ही धारण करती है, वह जीवात्मा कीट, विष्ठा आदि जठर में अत्यन्त दुःखों को भोगकर योनि द्वारा पुनः बाहर आता है। इन्हीं सब अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ब्रह्मज्ञान की इच्छा की जाती है, सावधान होकर शास्त्रोक्त धर्म का अनुष्ठान किया जाता है। मरण में तथा विभिन्न नरकों के उपभोग में जो दुःख प्रसिद्ध हैं, उससे कोटि कोटि-गुणित दुःख योनियन्त्र में होता है। योनि में प्रवेश और उससे निर्गम में मरण दुःख से सहस्रों गुना अधिक दुःख होता है। माता के उदर में निवास नरक से अधिक भयावह है।

गर्भवास के अनन्तानन्त दुःखों का वर्णन भी रोमाञ्चकारी है। योनि या माता का उदर एक प्रकार से विष्ठा और मूत्र का आलय है। दौर्गन्ध्ययुक्त पूय और रक्त से वह गृह लिप्त है। कफ, पित्त आदि विविध रङ्गवाले धातुओं से चित्रित है। मांसमयी ही उस गृह की भित्ति है। अनियमित कीटरूप सर्पों से आकीर्ण तथा विविध व्याधिरूप बिच्छुओं से वह भरपूर भिरा है। माता के प्राणरूप महावायु से विविध नाड़ीरूप रज्जुओं का

बन्धन लगा है। उस गृह में अवकाश अत्यन्त सङ्कीर्ण है। यह भी अन्तर्वह्नि से दग्धप्राय है। विवेकी लोग कहा करते हैं कि मल-मूत्र-रुधिरादि परिपूर्ण और ऊपर तथा नीचे भी अग्नि से दन्दह्यमान पात्र में पड़े हुए व्याकुल कीट की जो अवस्था होती है, वही स्थिति गर्भवासी जीव की होती है। कोई-कोई जातिस्मर योगीलोग गर्भ की दुस्सह वेदनाओं को स्पष्टरूप से स्मरण करते हैं। गर्भवास के अनन्त दुःखों का वर्णन अशक्य है। अज्ञान, असामर्थ्य, क्षुधा, पिपासा और अनेक जन्मों के दुःखों की स्मृति गर्भवासी जीव को अधिक त्रस्त करती है।

गर्भ में जाकर रज और रेत के सम्पर्क से कलल, मांस, ग्रन्थि, शिर आदि विभिन्न अवयवों के बन जाने पर प्रसूतिवायु के द्वारा गर्भासन और जरायुपट का त्याग होता है। मेढक के समान, इतस्ततः हाथ, पैर और गात्र के सञ्चालन से बालक मानो माता के पेट को फाड़ने का प्रयत्न करता है। कभी कुक्षि, कभी हृदय तो कभी योनियन्त्र की ओर बन्दर के सदृश भटकता हुआ गर्भशिशु माता को कष्ट पहुँचाता है सर्प से ग्रस्त मेढक के समान दुःखी जन्तु प्रसूतिमारुत द्वारा बाहर लाया जाता है। आरा से भी सहस्रगुणित कर्कश और स्वल्प छिद्रवाले योनियन्त्र से निकलने में जीव को बड़ा ही दुःख होता है। कीटयुक्त भयङ्कर व्रण में जैसी व्यथा होती है, बालक के योनियन्त्र से आने से माता को भी उसी प्रकार का कष्ट होता है। पेट के व्रण में जैसे सर्प के रहने से कष्ट होता है, वैसे ही पेट में गर्भ रहने से माता को कष्ट होता है। सड़े दुर्गन्धित व्रण को फाड़कर सर्प को निकलने से जैसे सुख होता है, वैसे ही शिशु का जन्म होने से माता को सुख होता है। मल-मूत्र के अवरोध से जैसे पुरुषों

को दुःख होता है, वैसे ही गर्भधारण से स्त्रियों को दुःख होता है। इसी प्रकार पुरुषों को मल-मूत्र के विसर्ग में जो आनन्द होता है, वही माता को गर्भ का प्रसव कर देने पर होता है। बीस अङ्गुल का लम्बा और वितस्ति परिमाण का चौड़ा जीता हुआ कीड़ा पुरुष के पेट में रहने से जितना कष्ट उसे हो, उतना कष्ट गर्भवती स्त्री को होता है। वही कीट पुरुष के पायुमार्ग से निकलने पर उसे जितना भयङ्कर कष्ट हो सकता है, उतना ही स्त्री को होता है। षोडश अङ्गुल छिद्रवाले गोल आय से निकलने पर हमलोगों को जैसे कष्ट हो, वैसा ही कष्ट योनियन्त्र के निकलने में शिशु को होता है।

इस प्रकार उत्पन्न सन्तान का पिता जातकर्म आदि संस्कार करता है, उससे वंश-विस्तार और स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा करता है। यह इस जीव का दूसरा जन्म है। फिर भी यह मनुष्यजन्म अन्य जन्मों से बहुत ही दुर्लभ है। देवता भी इस मनुष्य-जन्म की आकाङ्क्षा रखते हैं। भारतवर्ष, तत्रापि वैदिक कर्म का अधिकारी द्विजाति जन्म अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसके द्वारा ही अचिकित्स्य भवरोग की चिकित्सा की जाती है। इच्छा, द्वेष, भय, मोह, क्षुधा, पिपासा, निद्रा, विट्मूत्र बाधा ये आठ दोष देहियों के लिए अचिकित्स्य हैं। सात्विक लोग मोक्ष की इच्छा करते हैं, राजस लोग मोक्ष के साथ-साथ विषय की भी इच्छा करते हैं और तामस व्यक्ति केवल विषय की ही इच्छा करते हैं, परन्तु इच्छा शून्य कोई भी नहीं है। सात्विक पुरुष विषयों से द्वेष करता है, राजस वैरी से भी और तामस केवल वैरी से ही द्वेष करता है। सात्विक मोह से डरता है, राजस यम से भी और तामस केवल राजादि से ही। सात्विक

को आत्मा का अज्ञान, राजस को विद्यादि का अज्ञान और तामस को सर्वत्र अज्ञान रहता है। क्षुधा, तृषा, निद्रा आदि सभी को होते हैं। ब्रह्म-विज्ञान के बिना इस अनर्थ परम्परा से छुटकारा नहीं है, विशेषकर मानुष जन्म इसी के लिए है।

उत्पन्न होते ही बालक दूध चाहने लगता है, नानाप्रकार का शब्द करता हुआ धरणीतल में पड़ा रहता है। जैसे जीव गर्भ में अङ्गादि चालन में स्वतन्त्र नहीं, वैसे ही बाल्यावस्था में भी वह मत्कुण, मशकादि के निवारण में असमर्थ रहता है। शरीर में खर्जु होने (खुजलाने) और उसके निवारण में असमर्थ होने पर वह रोने लगता है, इच्छानुसार अन्न-पानादि भी प्राप्त नहीं कर सकता। वह कण्ठ के अस्पष्ट रहने से बोलता हुआ भी स्पष्ट नहीं बोल सकता, दुःखी होकर केवल जोर से 'माँ माँ' पुकारता है। माता कभी शब्द सुनकर आती है तो कभी कार्यान्तर-व्यासक्त होने से नहीं भी आती। बालक के शरीर में विष्ठा, मूत्र, लाला आदि लगे रहते हैं। माता कभी उसे धो-धाकर साफ कर देती है तो कभी नहीं भी कर पाती। वह बालक कभी व्यर्थ ही हँसता तो कभी व्यर्थ ही रोता भी है। मूढ़ता से विष्ठादि भी खा जाता है। बोलने-चलने या किसी वस्तु को लेने की इच्छा करता हुआ भी वह असामर्थ्यवश खिन्न होता है। वह माता, पिता, भ्राता आदि को मोहवश राक्षस तथा पिशाच समझता है।

इस तरह अनन्त कष्टों को भोगकर वह जीव हस्त तथा जङ्घा के बल पर चलने लगता है और कुछ बोलने भी लगता है। वह श्वान की तरह सब से शङ्कित तथा भीत रहता है। कुछ काल में पैरों से चलने

लगता है और बहुत चञ्चल हो जाता है। फिर वह कुछ बोलने लगता है, किन्तु हिताहित नहीं जानता। माता, पिता, बन्धु तथा हितकारी अन्य बालक भी उसे डाँटते मारते हैं। वह श्वान के समान व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता है। उन्मत्त के समान चाहे जो बोलता और चाहे जो वस्तु उठा लेता है। वह धूलिधूसरित होकर परिश्रम से थक जाता है। व्यर्थ ही किन्हीं बालकों से प्रेम या वैर कर लेता है। घर में अनुपस्थित वस्तु माँग बैठता है। राजा के समान निश्चिन्तता से उच्च वस्तु की आकाङ्क्षा करता है। उसके न मिलने पर खाता नहीं और रोने लगता है। इस तरह कौमार-अवस्था में नानाविध दुःखों का अनुभव करके वह प्राणी कोटि कोटि दुःखों की खान यौवनावस्था को प्राप्त होता है।

यौवनावस्था भी स्त्री-पुरुषभेद से अनेक दुःखों का कारण होती है। युवती स्त्री को पति आदि से भय रहता है। पराधीनता तथा विविध कार्यव्यग्रता हर समय शिर पर चढ़ी रहती है। जैसे कामी पुरुषों को वधू की इच्छा होती है, वैसे ही वधूजन को कामी की इच्छा होती है। किन्तु पति आदिकों तथा कुलधर्मलोप के भय से निरुद्ध होकर वे जीवन शृङ्खलाबद्ध काल व्यतीत करते हैं। पुरुषों की अप्राप्ति, प्राप्त पुरुषों की अनिच्छा और पुत्र की इच्छा से गर्भ-धारण द्वारा युवती नारी दुःखार्णव में गिरती है। इसी तरह युवक पुरुष को भी— धार्मिक हुआ तो—यम आदि का भय, पिता आदि का भय—और मूढ़ हुआ तो—राजा आदिकों का भय बना रहता है धन आदि के न रहने से पराधीनता रहती है। वधू की अप्राप्ति या प्राप्ति में भी विविध कष्ट होते हैं। कुल, विद्या, धन और यौवन ये प्राणी को उन्मत्त बना देते हैं। यौवनज्वर-

पीड़ित प्राणी कभी गाता, बकता, हँसता, पितृतुल्य पुरुषों का भी अपमान करता, उनसे लड़ता, ताल ठोंकता, चिल्लाता, नाचता और दौड़ता रहता है। वह दुर्दान्त अहङ्कारी होकर निःश्वास लेता है। कार्याकार्य-ज्ञानशून्य, वधूजनपराधीन वह विलासार्थ दूसरों के धनापहार की भी इच्छा करता है।

शास्त्रविरुद्ध आचरण, गृह, क्षेत्र, कलत्र आदि में आसक्त युवकरूप मण्डूक पर शीघ्र ही कालसर्प का आक्रमण होता है। चिन्ता से आवृत दुःखाकर युवक पर शीघ्र ही (श्वतृष्णा) उज्ज्वल कुष्ठिन जरापिशाची का आक्रमण होता है। वह उसके सङ्गम से श्वेत हो जाता है। शक्तिहीन और कुरूप, दुःख-शोक से समावृत वृद्ध पुरुष विस्मरणशील हो जाता है। लोग उसका अपमान करने लगते हैं। कास, श्वास का भी प्रकोप हो जाता है। आहार-विहार के वैषम्य से, विलासी जीवन व्यतीत करने तथा जन्म जन्मान्तर के उच्चावच विविध पातकों के कारण उसे ऐसे ऐसे भयङ्कर रोग उत्पन्न होते हैं, जिनके देखने और स्मरण करनेमात्र से घोर त्रास होता है। डाक्टर, वैद्यों के चिकित्सालयों में जाकर वहाँ का वातावरण देखने और आयुर्वेदोक्त व्याधियों के श्रवण से भी प्राणी का चित्त उद्विग्न हो उठता है। वृद्धावस्था में प्राणी यौवनकाल के अपने सुकृत-दुष्कृतों को याद करता है और अपनी अन्तरात्मा को कोसता है कि 'मैंने कितने भयङ्कर-भयङ्कर पाप किये हैं ! उनका फल क्या क्या भोगना पड़ेगा !' पुत्र-पौत्रादि भी वृद्ध का आदर नहीं करते। जब विद्वान् और धनवान् वृद्ध की भी ऐसी स्थिति होती है, तब मूर्ख और निर्धन के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ! प्राणी बाल्यकाल में जिस

अवस्था को प्राप्त हुआ था, वृद्धावस्था में ठीक उसी में पुनरावर्तन करता है। विशेषता यह है कि बाल्यकाल में शक्तिहीन, मल-मूत्रादि से लिप्त बालक को देखकर लोग निन्दा या घृणा नहीं करते। किन्तु तामस, शक्तिहीन, मल मूत्रादिसमावृत, नासिकामल मक्षिकाक्रान्त, दन्तविहीन, प्रकम्पित वृद्ध को देखकर लोग घृणा और निन्दा भी करने लगते हैं। विषय की अप्राप्ति तथा असामर्थ्य के कारण भी वृद्ध में इच्छा बहुत होती है, स्वजन के प्रति स्नेह और दुर्जन के प्रति विद्वेष भी बढ़ जाते हैं।

यौवनकाल में नानाविध पुण्यों से अपने ही प्रतीपदेहस्वरूप पुत्र को उत्पन्न किया था। इस वृद्धावस्था में वह अपने द्वारा असम्पादित या अर्धसम्पादित यश, भूतसुखादि का सम्पादन करने के लिए उसी पुत्र को अपना प्रतिभू (प्रतिनिधि) बनाकर परलोकयात्रा के लिए सूक्ष्मदेहरूप रथ प्रस्तुत करता है। पुण्य और पाप ही उस (रथ) के चक्र और दुःख ही पाथेय होता है। प्राण ही पुष्ट घोड़े होते हैं। बुद्धिरूप काष्ठ से ही यह रथ निर्मित है। कास, श्वास, हिक्का आदि द्वारा अपार दुःखों को भोगकर, मोहित होकर वह दुःखाकर शरीर को छोड़ना चाहता है। उस समय भी दुःखी होकर वह जीव पुत्र, कलत्र आदि का स्मरण करता है। मरण के उद्वेग से उसे महान त्रास और कम्प होने लगता है। बन्धु बान्धव भी चारों ओर से हिंसास्थान में एकत्र पशुओं की तरह विविध वार्ता करने लगते हैं। बहत्तर हजार बिच्छुओं के एककालावच्छेदेन काटने और डङ्क मारने से जितना दुःख होता है, उतना ही दुःख मुमूर्षु को देहत्याग में होता है। हाथ-पैर पटकते, मूर्च्छित, मरणासन्न प्राणी को

देखकर स्वजनजन वैसा ही शोक करते हैं, जैसा आतुर काक को देखकर दूसरे काक। ग्राम शूकर के समान घुरघुराते हुए प्राणी को मृत्युरूप व्याध बाँधकर अत्यन्त दूर देश में ले जाता है। कालपाश से बँधा हुआ प्राणी जालबद्ध कपोत के समान अत्यन्त दीन हो जाता है। बड़िश- (मछली मारने की बंसी में लगे हुए मांस के) भक्षणार्थ आयी (मछली को जैसे उग्रबुद्धि धीवर पकड़ लेता है, वैसे ही पुत्र, क्षेत्र आदि संसार-सुखों के भोग में आसक्त प्राणी को मृत्यु पकड़ लेता है। मुमूर्षु प्राणी संसार-वन में हरिण-शावक के समान है। कालरूप व्याध व्याधिरूप बाण से उसे मारता है। स्वेद से मुमूर्षु का शरीर गीला हो जाता है। उसे सैकड़ों हिचकियाँ आने लगती हैं। उसकी यह दुर्दशा देखकर भी निष्ठुर मृत्यु को करुणा नहीं आती। संसार के कुटुम्बी लोग नानाप्रकार से रुदन करते हैं। श्लेष्मा से उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और उसमें घुरघुराहट होने लगती है। इसी बीच काल काम तमाम कर देता है। सब के रोते-धोते, विलाप करते समय ही यमकिङ्कर उसे लेकर चले जाते हैं।

इस शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का बन्धन है, मृत्यु कालकुठार से सब को उसी तरह काट देता है, जिस तरह प्रकुपित हस्ती कदलीवन को काट देता है। तब पादाग्र से लेकर केशपर्यन्त सभी रोमछिद्रों में मृत्यु के द्वारा दुःसह वेदना होती है। मरणकाल में प्राणी को साढ़े तीन करोड़ सूचियाँ (सुइयाँ) एक ही समय शरीर मे चुभने जैसा दुःख होता है। जीवित प्राणी को आरा के द्वारा बार-बार छिन्न भिन्न करने पर जैसा दुःख होता है, वैसा ही दुःख प्राणी को मरणकाल में होता है।

पैर से लेकर सिर तक सारी त्वचाओं के उत्पाटन में जीवित प्राणी को जो दुःख होता, उससे भी अधिक दुःख मुमूर्षु को मरणकाल में होता है। तप्त तैल में प्रवेश तथा नासिका आदि नवों छिद्रों के बन्द करने में जीवित प्राणी को जितना कष्ट होता है, उससे भी अधिक कष्ट मुमूर्षु को मरणकाल में होता है।

इसके पश्चात् दुर्मार्गगामी प्राणियों को नरक में भी भयङ्कर दुःख होते हैं। मुमूर्षु प्राणी बार बार मूर्च्छा को प्राप्त होता है, कभी-कभी जाग जाता है। वह दारुण यमकिङ्करों को देखकर भयभीत होता और आँसू बहाता तथा भय से विण्मूत्र (विष्ठा मूत्र) भी त्याग देता है। कभी जोर से चिल्लाता है। अत्यन्त लम्बे-लम्बे, काले, भयङ्कर मुख और बर्बर केशवाले, हाथ में चाबुक और पाश लिये हुए यमकिङ्करों को देखकर मुमूर्षु कांप उठता है, वह मुख से फेन तथा मल छोड़ने लगता है। यम किङ्कर उस समय उस मुमूर्षु की इस प्रकार भर्त्सना करते हैं—

'धिक्कार है तुम्हें, जो मनुष्यदेह पाकर भी अपना कल्याण न किया। शत्रु, मित्र, मध्यस्थ की कल्पनाओं में डूबे रहे। वस्तुतः स्वयं तुम अपने शत्रु हो, क्योंकि अपनी आत्मा को बन्धन से छुड़ाने का तुमने प्रयत्न नहीं किया। जो अपने प्रतिकूल हो, वही मन वचन-कर्म से दूसरों के लिए करना आत्मशत्रुता है। परपीड़क प्राणी को जीते समय दूसरों से और मरने के बाद हमलोगों से भय रहता है।'

वास्तव में प्राणियों का यह देह माता पिता का मल ही है और प्रत्यक्ष भी मूत्र विष्ठा से पूरित है। यदि यह काले या गोरे चर्म से

आवृत न हो, तो काक, गृध्र, मक्षिका आदिकों से मास, रुधिर तथा विष्ठा मल के समान ही घिरा रहे। वैसी स्थिति में प्रत्येक प्राणी को दण्ड लेकर काक, गृध्र, मक्षिकाओं के निवारण में ही लगे रहना पड़े—

'यदन्तरस्य देहस्य बहि' स्यात् च तदेव चेत्।
दण्डमहृ धारयेयुः शुन काकांश्च मानवाः॥'

यमदूत उससे कहते हैं कि विनाशी और कृतघ्न प्राणी अस्वाधीन होकर हजारों दु:ख भोगता है और स्वार्थ का भी विनाश करता है। यह देह विनाशी और कृतघ्न है, क्योंकि हजारों वर्ष इसको खूब उत्तमोत्तम पक्वान्न खिलाओ, दिव्य भूषण, वसन, अलङ्कार पहनाओ, सुगन्धित इत्र फुलेल लगाओ, तो भी अन्त मे छोड़कर चला जाता है। यह स्वयं हजारों तरह के परिणामोंवाला है। यह सदा दु:खकारी तथा स्वार्थ का विनाशक है। इस मिथ्या, विनश्वर, अपवित्र देह के पीछे तुमने जितने दुष्कृत किये, उनके फलस्वरूप तुम्हें दिन रात अनन्तानन्त दुःख मिलेंगे। देह के सुख के लिए दार पुत्रादि का आश्रयण करके तुमने कोई भी अच्छा कर्म नहीं किया।

'सुकृत के अर्जन में बहुत ही थोड़ा कष्ट होता है। भगवान् परमात्मा के चिन्तन में तो कुछ भी कष्ट नहीं होता, क्योंकि वे तो साक्षात् सर्वसाक्षी आत्मस्वरूप ही हैं। तत्त्ववित् लोग कहा करते हैं कि कुसुम मर्दन से भी आत्मबोध सुकर है। यदि निर्गुण ब्रह्म जानने में असमर्थ थे, तो सगुण ब्रह्म की ही उपासना क्यों न की? भगवान् की उपासना में तो अत्यन्त आनन्द होता है। जिस सावधानी से तुमने सर्वदा दूसरों के दोषों का चिन्तन किया, उसी सावधानी से महात्मा का क्षणभर भी चिन्तन नहीं

किया। दूसरों के विनाश के लिए तुमने जितना उद्यम किया, अपने स्वर्ग और मोक्ष के लिए उससे स्वल्प भी उद्यम क्यों नहीं किया? तुमने यह पाप एकान्त में किया और यह बलपूर्वक सब के समक्ष किया। इन सब साक्षी आदित्य, चन्द्रमा, भूमि, वायु, अग्नि, आकाश, जल, हृदय, यम, दिन, रात और दोनों सन्ध्यायें हैं। मेरे समान बलवान् इस लोक में कौन है यह समझकर पाप में प्रवृत्त प्राणी को कौन शिक्षा दे? गर्व से पाप-कर्म में प्रवृत्त होकर मर्यादा तोड़ते हुए तुमने लोक को शोकाकुल किया। ऐसे लोकोपद्रवकारी तुम दुर्बुद्धि का शासन करनेवाले हमलोग तुमसे भी अधिक बलवान् हैं। तुम्हारे सम्पूर्ण दुष्कृतों को हमलोग जानते हैं। यमराज की सभा में तुम्हारा दिनकृत पाप सूर्य बतलायेंगे। ये सर्वदा प्राणियों के साथ रहते हैं। देवमाया से भी मोहित अज्ञानी इन्हें नहीं जानता।'

इस प्रकार यमदूत कठोर वचनों से भर्त्सना करके दारुण पाशों से बाँधकर चाबुक से मारते हुए जीव को ले जाते हैं। इस तरह जीव के जाते ही उसका शरीर अग्नि, जल या पृथ्वी द्वारा भस्म, विष्ठा या कृमि-भाव को प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा के छोड़ देने पर अत्यन्त शोभन भी यह शरीर बीभत्स होकर विनष्ट हो जाता है और कोई उसकी रक्षा नहीं कर सकता। इस शरीररूप एकादशद्वारवती पुरी में जिस मार्ग से परमात्मा ने प्रवेश किया है, योगाभ्यास, उपासना आदि द्वारा उस मार्ग से जो लोग जाते हैं, वे अवश्य ब्रह्मलोक पाते हैं। चक्षु, श्रोत्र आदि द्वारा निकलकर सुकृती प्राणी स्वर्ग और दुष्कृति प्राणी दुष्कृत के कारण अधस्तन मार्गों से निकृष्ट लोकों में जाता है।

स्त्री आदि जिसके विना मुख में एक ग्रास भी नहीं देते थे, उसके मर जाने के बाद बन्धु-बान्धवों के साथ वे ही आकण्ठ स्वादयुक्त पदार्थ भक्षण करते हैं। जिसे पहले कोमल, निर्मल, शुभ्र शय्या पर सुलाया जाता था, उसे ही प्रज्वलित अग्नि में डाल दिया जाता है। जिसे पहले मृदुलस्पर्शवाले गन्ध-पुष्पयुक्त हाथों से स्पर्श करने में भी पत्नी, बान्धवादि भयभीत होते थे, उसे ही तीक्ष्ण काष्ठों से स्पर्श करके जलाते हैं। जिसे घोड़े, हाथी, पालकी, रथ द्वारा ले जाया जाता था, उसे ही काष्ठों पर बांधकर श्मशान पहुँचाया जाता है। पहले जो मङ्गल-वादित्रों के साथ प्रयाण करता था, वही स्त्रियों के शोकयुक्त रोदन के साथ श्मशान में जाता है। जो लोग उसके आगे-आगे माङ्गलिक दधि, लाजादि वस्तु लेकर चलते थे, वे ही उस मृतक के आगे सधूम अग्नि लेकर चलते हैं। जो क्षणभर के लिए पुत्र भार्यादि को नहीं छोड़ सकता था, वही सर्वस्वत्यागी, परमविरक्त सा बनकर श्मशान को जाता है। बान्धव लोग जिसके विना क्षणभर भी नहीं रह सकते थे, अब उसके विना प्रसन्नता से रहने लग गये। जो देवोपम प्राणी पहले जनता-मुखाब्ज-भास्कर था अर्थात् जिसे देखकर जनता का मुख कमल खिल उठता था, मरने के बाद उसी के दर्शन स्पर्शन से जनता को स्नान करना पड़ता है। जिसका चरणोदक बड़ी श्रद्धा से लोग शिर पर धरते थे, मरने के बाद उस परमश्रोत्रिय के स्पर्श से स्नान करना पड़ता है। इस तरह प्रत्यक्षदोषयुक्त संसारकूप में निपतित महादुःखी प्राणी भी देवमाया से मोहित होकर कुछ नहीं समझता।

इस तरह शरीर छोड़कर क्षुधा पिपासा से व्याकुल, यमकिङ्करों से

अतिरिक्त यह जीव बहुकोटियोजन दूर यमालय में यमकिङ्करों द्वारा शीघ्र ही पहुँचाया जाता है। जैसे पाशबद्ध और चाबुक आदिकों से ताड़ित बकरा बलिस्थल में ले जाया जाता है, वैसे ही प्राणी यम-किङ्करों द्वारा यमपुर में ले जाया जाता है। यमलोक के दुःख वर्णन करने में भी अशक्य हैं। शूकर, काक, गृध्र आदि पक्षियों का महान् उपद्रव यमराजपुर के मार्ग में होता है। बहुत से राक्षस नानाविध शस्त्रास्त्रों से यमपुर के पथिक को खूब मारते हैं, फिर भी वह दुष्कृत भोगने के लिए जीवित रहता है। उसे पूय, विष्ठादि से परिपूर्ण भयङ्कर नदियों का लङ्घन करना पड़ता है, उसमें बारबार डूबना भी पड़ता है। नक्र, मकरादि का भी भय रहता है। अग्नि, शस्त्र, जल और सन्तप्त बालुकाशाली पृथ्वी तथा उद्वेजक वायु आदि के कारण महान् कष्ट होता है। असिपत्रवन आदि अत्यन्त भयङ्कर नरकों में दुष्कीर्ति प्राणी महादुःख पाता है, जिनका वर्णन इतिहास-पुराणों में प्रसिद्ध है।

अनन्त, अपार नारकीय दुःखों को भोगकर पुनः बीजादिभाव को प्राप्तकर प्राणी इस लोक में आता है। सुकृती प्राणी भी स्वर्गसुख भोग-कर सुकृतान्त में निपतित होकर बादल आदि द्वारा फिर पाप-पुण्य के अनुसार इसी लोक में आता है। यही जीवों की गति है। (मा० सन्मार्ग ९।११-१२)

प्रार्थना का प्रभाव

भगवान् की आराधना और प्रार्थना ऐसी वस्तु है कि वह यदि शुद्ध श्रद्धा भक्ति से की जाय, तो कोई भी ऐसे कार्य नहीं हैं, जिनकी सिद्धि न हो सके। परन्तु उस प्रकार का विश्वास और भगवत्परायणता बिना हुए उसका नाट्य रचना सचमुच उपहासास्पद है। भगवान् ने कहा है कि जो प्राणी अनन्यभावना से मेरा चिन्तन करते हुए सम्यक् उपासना करते हैं, उन योगयुक्त के योग और क्षेम का निर्वाह मैं ही चलाता हूँ। जो वस्तु मिली नहीं है, उस का प्राप्त होना 'योग' है और मिली हुई की रक्षा करना 'क्षेम' कहलाता है। भगवान् सर्वान्तरात्मा ही भगवत्परायण प्राणियों के योगक्षेम का निर्वाह करते हैं—

> "मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः।
> तेषां विच्छिन्नतृष्णाना योगक्षेमवहो हरिः॥"

जैसे अप्राप्त लोकव्यवहारोपयुक्त वस्तुओं की प्राप्ति योग है, वैसे ही मोक्ष, अपवर्ग आदि के उपयोगी ज्ञान, समाधि आदि की प्राप्ति भी योग ही है। शरणागति का भाव महानुभावों ने ऐसा वर्णन किया है कि जैसे गौ, अश्व आदि का विक्रयण करनेवाला पुन. उनके भरण-पोषण की चिन्ता में नहीं पड़ता, उसी तरह अपने सर्वस्वसहित अपने आप को भगवान् में समर्पण कर देनेवाले प्राणी को अपने लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की चिन्ता नहीं रहनी चाहिये।

परन्तु, क्या यह सब ऊपर के भावों के समान बनावटी हो सकता है ? प्राणियों में देखा जाता है कि ऊपर से भगवान् की शरणागति की बात "त्राहि मा शरणागतम्" आदि शब्दों में की जाती है, परन्तु हर समय अपने भोजन, पान, धन, पुत्र, प्रतिष्ठा के अर्जन में व्यग्रता दिखलायी देती है। यह प्राणियों से हो ही नहीं सकता कि घर में आग लगी हो और वह अव्यग्रता से भगवान् के ध्यान या जप में लगा रहे। यदि किसी सौभाग्यशाली की यह स्थिति हो जाय, तो अवश्य ही भगवान् उस के घर की आग बुझा देते हैं। आलस्य और अकर्मण्यतावश अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करना यह एक बात है और भगवत्परायणता में विश्वविस्मरण होने से वैसा हो यह दूसरी बात है। अपने यहाँ के कितने ही भक्तों के उदाहरण हैं कि उनके भगवद्भजन में तन्मय होने पर भगवान् ने ही उनके कर्त्तव्यों का पालन किया है रावण, मेघनाद आदि राक्षसों की कथाओं में भी ऐसी बातें आती हैं कि वे लोग युद्ध के अवसरों में जिस समय अपने यज्ञ या देवाराधन में बैठते थे, उस समय किसी बात की परवाह नहीं करते थे। तब उनका ध्यान, आराधना आदि भङ्ग करने के लिए सुग्रीव के सैनिकों की ओर से विघ्न किया जाता था। उस समय लोगों की यह धारणा थी कि यदि इनके निर्विघ्न देवाराधन सम्पन्न हो गये, तो फिर इन पर विजय प्राप्त करना असम्भव हो जायगा। वे लोग भी घोर अपमान और कष्ट सहन करके भी अपने आराधन से नहीं उठते थे और यदि किसी प्रकार से उन्हें उठना पड़ा, तो वे उसे अपनी सफलता में बाधक समझते थे।

सर्वत्र ही निजी प्रयाससाध्य कार्यों में भी प्राणियों को ईश्वर का

सहारा रखना ही पड़ता है। द्रौपदी और गजराज का जब अपना और अपने रक्षकों का सहारा टूट गया, तब फिर भगवान् के बिना उनका और कौन रक्षक हुआ? आलसी एवं अकर्मण्य नहीं, किन्तु भगवान् का भक्त अपनी भक्ति से उन अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान् को भी अपने वश में कर लेता है, जिनके भ्रूविलास से माया अपरिगणित ब्रह्माण्डों का सृजन, पालन एवं संहरण करती है। उन भक्तों का कौनसा ऐसा कार्य्य अवशिष्ट रह सकता है, जो भगवान् के कृपा-कटाक्ष से न हो सके? सच्चे भक्तों की प्रार्थना से समाज एवं एक देश का ही नहीं, विश्वभर का कल्याण हो सकता है और हुआ है। परन्तु उस प्रकार की योग्यता और प्रार्थनातत्परता जबतक नहीं है, तब-तक हम अपने अनेक लौकिक स्वार्थमय कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। जबतक प्राणी को भोजन पानादि नानाव्यवहारों का स्मरण बना रहता है, तब-तक के लिए वह "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" का अधिकारी नहीं होता। उस काल में तो "मामनुस्मर युद्धय च" के अनुसार भगवत्स्मरण के साथ कर्त्तव्यकोटि में उपस्थित समस्त लौकिक-पारलौकिक कर्मों के करने में प्रयत्नशील होना ही चाहिये। "कर्मण्येवाधिकारस्ते", 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्व" इत्यादि वचनों से भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है कि राग-द्वेषविहीन होकर वैयक्तिक और सामूहिक कल्याणदृष्टि से अपने कर्त्तव्य कर्म के पालन में शास्त्रानुसार ही सन्नद्ध रहो।

वेदशास्त्रों पर आस्था और श्रद्धा रखकर उनकी आज्ञानुसार चलने से लोक-परलोक, भगवदाराधन, भगवत्प्रसन्नता सब कुछ सुलभ हो जायगा। व्यष्टि, समष्टि, लौकिक, पारलौकिक ऐसा कोई भी अभ्युदय या कल्याण

नहीं है, जिसका वेदशास्त्र से सम्बन्ध न हो। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार की सभी हलचलों या चेष्टाओं का औचित्य-अनौचित्य, सौष्ठव असौष्ठव, सम्यक्त्व असम्यक्त्व वेदशास्त्र से ही निर्णीत होता है। प्रमादापराध से यदि कोई साधारण निषिद्ध कार्य्य हो जाय, तो इतने से ही दूसरे किसी बड़े निषिद्ध कार्य्य का अनुमोदन कदापि वाञ्छनीय नहीं हो सकता। सर्वथा शास्त्रों की दृष्टि से चलने पर कुछ भी अमान्य नहीं है।

संसार में बहुत से ग्रन्थों की अच्छाई-बुराई उनके प्रतिपाद्य विषय की अच्छाई-बुराई पर अवलम्बित रहती है। परन्तु वेदशास्त्र की यही विशेषता है कि यहाँ विषय की अच्छाई-बुराई वेदशास्त्र की सम्मति-असम्मति पर ही निर्भर है। इन शास्त्रों के आधार पर ही यह भी विदित होता है कि बहुत से ऐसे भाव हैं, जो स्वयं दूषित वस्तुओं के संसर्ग से दूषित नहीं होते, किन्तु दूषित वस्तु ही उनके संसर्ग से भूषित हो जाती है। भगवान् की ठीक आराधना और प्रार्थना समस्त दोषजालों का उन्मूलन करके प्राणी को सन्मार्ग पर ला सकती है और वैयक्तिक, सामूहिक, लौकिक, पारलौकिक सब प्रकार का कल्याण सम्पादन कर सकती है। यह तो सभी को मान्य है कि सद्बुद्धि से ही सन्मार्ग में प्रवृत्ति और सब प्रकार का कल्याण सम्भव है। परन्तु यह सद्बुद्धि ही कैसे प्राप्त हो? सत्कर्म से सद्बुद्धि और सद्बुद्धि से सत्कर्म माना जाय, तो फिर अन्योन्याश्रय दोष आता है। भगवदिच्छा से सत्कर्म का पक्ष यद्यपि ठीक ही है, फिर भी भगवदिच्छा का आदर करने की सद्बुद्धि यहाँ पर भी अपेक्षित रहती है। अतएव अपने यहाँ सर्वप्रधान गायत्रीमन्त्र द्वारा सद्बुद्धि और भगवदिच्छा

के लिए भी भगवान् की प्रार्थना का ही सङ्केत मिलता है। समस्त पुरुषार्थों, सभी कर्त्तव्यों का एक मूल सद्बुद्धि है। अतएव अपने देहदौर्बल्य, प्राणदौर्बल्य, इन्द्रियदौर्बल्य को सुनकर रोष नहीं होता, परन्तु सद्बुद्धि का दौर्बल्य सुनने से असह्य क्षोभ उत्पन्न होता है। इसलिए सद्‌-बुद्धि, सत्प्रेरणा के लिए भगवान् से ही प्रार्थना की जाती है, जिससे समस्त पुरुषार्थ सरलता से अपने आप सिद्ध हो सकें। (सिद्धान्त १।७)।

———

भक्ति और मुक्ति

कहा जाता है कि अद्वैतवाद की कैवल्य मुक्ति पाषाणकल्प है, जहाँ किसी भी प्रकार का सौख्य एवं उसकी सामग्री नहीं होती। भगवान् की मङ्गलमयी लीलाओं का जहाँ स्फुरण हो, वही परमपुरुषार्थ है। इतना ही क्यों, भावुकों का तो यह कहना है कि मुक्ति से भी श्रेष्ठ भगवान् की भक्ति है। इसीलिए भक्तलोग मुक्ति की परवाह न करके केवल भक्ति चाहते हैं—

"न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥"

अर्थात् धीर साधुजन, एकान्तभक्त मेरे दिए हुए अपुनर्भव (मोक्ष) को भी नहीं चाहते। कुछ लोग भगवान् के चरितमहामृताब्धि-परिवर्त से सर्वश्रमविनिर्मुक्त होकर अपवर्ग को भी रुचि नहीं करते—

'न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।"

भक्तिरस की ऐसी अद्भुत महत्ता है कि मुक्ति या ब्रह्मानन्द भक्ति रसामृतसिन्धु के परमाणु की तुल्ना में भी नहीं आ सकते—

"ब्रह्मानन्दो भवेदेष द्विपरार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिरसाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥"

जो भगवान् की कथामृताब्धि का निरन्तर अवगाहन करते हैं, वे चतुर्वर्ग को तृण के समान समझते हैं—

"स्वत्कथाऽमृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥"

कुछ लोग कहते हैं कि प्राणी का जबतक भुक्ति-मुक्ति-स्पृहारूप पिशाची से पीछा नहीं छूटता, तबतक भक्तिसुख का उदय होना कठिन है—

"भक्तिर्मुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥"

साथ ही कुछ लोग कैवल्यमोक्ष का ही महत्त्व गाया करते हैं और भक्ति को एक अन्तःकरण-वृत्ति ही कहते हैं। उनका कहना है कि इसीलिए सर्वत्र ही शास्त्रों में प्राप्यरूप मोक्ष का ही विचार किया गया है। भक्ति तो एक साधनरूप से ही यत्र तत्र आदरणीय बतलायी गयी है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो दोनों ही ओर सार है। कमी यही है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहता। इतना ही नहीं, किन्तु एक दूसरे पक्ष को घृणा की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः शब्दों से भले ही कोई कह ले कि मुझे मुक्ति नहीं चाहिए, परन्तु जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, शोक और मोहादियतखण्ड कुलित संसार से छुटकारा पाना किसे अभीष्ट न होगा? क्या विकराल नेत्र-व्यथा और उदर-शूल व्यथा का मिटना मन नहीं चाहता? फिर सर्वोपद्रव तथा सर्वतापनिवृत्तिरूप मुक्ति से किसे अरुचि हो सकती है? हां, स्वस्वरूपभूत परमानन्दरसामृतसिन्धु भगवान् में स्वाभाविकी प्रीति भी कम महत्त्व की नहीं है।

भगवच्चरणपङ्कजसमर्पणबुद्धया अनुष्ठीयमान स्वधर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है उससे नित्यानित्य वस्तु का विवेक, तदनन्तर ऐहिक

आमुष्मिक समस्त सौख्य एवं तत्सामग्रियों में वितृष्णतालक्षण वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य से ही शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधानलक्षण षट् सम्पत्तियों का आविर्भाव होता है। तब तीव्र बुभुक्षा (भूख), पिपासा (प्यास) के समान तीव्र मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) व्यक्त होती है। आचार्यों का कहना है कि इस तरह मोक्ष की तीव्र आकांक्षा के बिना शुद्ध जिज्ञासा एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्त्वसाक्षात्कार कुछ भी नहीं सम्पन्न हो सकता। तीव्र मुमुक्षा से ही श्रवणादि की सफलता हो सकती है। इस तरह मुमुक्षुत्व, जिज्ञासुत्व अर्थात् मोक्ष की उत्कट उत्कण्ठा एवं ज्ञान की उत्कट इच्छा ही ब्रह्मसाक्षात्कार या मोक्ष का मुख्य मूल है और ब्रह्मसाक्षात्कार या मोक्ष की उत्कट उत्कण्ठा स्वधर्मानुष्ठान एवं भगवदुपासनादि का परम फल है। श्रौतस्मार्तश्रृङ्खलानिबद्ध चेष्टाओं से प्राणी की उच्छृङ्खल चेष्टाओं का निरोध होता है। पाशविक काम-कर्मों के निरुद्ध होने पर प्राणी की शुद्ध कर्मों और कामों में स्थिति होती है। उनसे अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही स्थिर वैराग्य होता है, तभी चित्त की एकाग्रता होती है। एकाग्र मन से ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वसाक्षात्कार का सम्पादन हो सकता है।

इस तरह जहाँ पहले पहल मोक्ष की वाञ्छा ही दुर्लभ है, तो फिर मोक्षस्पृहा, विनिर्मुक्त होने की भावना, कितनी बड़ी बात है! फिर भी अवश्य एक ऐसी स्थिति है, जहाँ प्राणी को गुणमात्र से निःस्पृह होना ही पड़ता है।

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्"

वशीकारसंज्ञक अपर वैराग्य से भिन्न एक पर वैराग्य होता है, सो कि पुरुषस्वरूप-साक्षात्कार से होता है। गुणों से वितृष्ण होना ही उसका स्वरूप है। गुणों में सर्वश्रेष्ठ सत्त्वगुण है, सत्त्व का भी सर्वोत्कृष्ट दिव्य परिणाम है परब्रह्माकाराकारित वृत्ति। उससे भी वितृष्णता होनी ही पर वैराग्य है, क्योंकि यह (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) वृत्तिपरिणामिनी, प्रतिसङ्क्रमणशीला, शान्त होती है, तद्विपरीत निर्विकारानन्दरूपा चिति अपरिणामिनी, अप्रतिसङ्क्रमणशील, शुद्ध, अनन्त, होती है। अतः गुणपरिणाम चाहे जैसा भी क्यों न हो, वह सर्वथा हेयपक्ष में ही है। अतः उससे वितृष्णता ही परवैराग्य है। परवैराग्यसम्पन्न व्यक्ति ही स्वात्मरतिलक्षण भक्ति का अधिकारी होता है। वस्तुतः ऐसी स्थिति पर पहुँचे हुए मुक्त मुनीन्द्रों की ही मुक्तिस्पृहा मिटती है और वे ही पर मुख्य भक्ति के मुख्य अधिकारी हैं। वैसे तो भक्तिसुरसरि में सभी अवगाहन के अधिकारी हैं, एक पतित भी और एक मुक्त मुनीन्द्र भी। वस्तुतः भगवद्भक्ति से ही कर्मयोग, ज्ञानयोग, दोनों ही सफलता होती है। उसके बिना किसी की भी सफलता नहीं, इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि भक्ति ही कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों का साधन है। अतएव देहली दीपकन्याय से दोनों का उपकार करने के लिए, कर्म और ज्ञान दोनों के मध्य में, भक्ति और उपासना की स्थिति होती है। साथ ही वह दोनों का फल भी है।

वही भक्ति दोनों की परिपुष्टि करके स्वयं ही दोनों के फलरूप में भी व्यक्त होती है अर्थात् वही भक्ति परमात्मस्वरूप में श्रद्धा तथा प्रीतिरूप में विराजमान होती है, फिर परमात्मस्वरूप साक्षात्कार के अनन्तर

परमात्मप्रीतिरूप भक्ति प्राप्त होती है, परन्तु वह भक्ति जन्य नहीं है। नित्य प्रत्यक् चिदात्मा सदा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद होता है, परन्तु वहाँ प्रेम और प्रेम का आश्रय एवं विषय पृथक् पृथक् नहीं हैं, तभी अत्यन्त अभेदवादी अद्वैतवादी वेदान्ती भी अपने निर्विशेष प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मस्वरूप को समस्त प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद मानते हैं। अतः ज्ञान के अनन्तर 'आत्मरतिरात्मक्रीडः', 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः' इत्यादि स्थलों में जो आत्मरति पद से कहा गया है, वह स्वात्मस्वरूप ही प्रेम है। भक्तिरसायनकार ने भी द्रवीभूत चित्त पर प्रादुर्भूत निखिलरसामृतमूर्ति भगवान् को शुद्ध प्रेम कहा है—

"भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम् ॥"

"रसो वै सः" इत्यादि श्रुतिसिद्ध रसस्वरूप परमात्मा ही सर्व जगत् का कारण है। कारण ही समस्त कार्यों में विराजमान होता है। इस रूप से रसात्मिका भक्ति स्वभाव से ही सर्वगत है। मुक्ति के विषय में यह भी कहा गया है कि भवबन्ध और मोक्ष दोनों संज्ञाएँ अज्ञान से हैं। वस्तुतः स्वप्रकाश सत्यज्ञानानन्दात्मा भगवान् से भिन्न होकर कोई वस्तु नहीं है। स्वप्रकाश सूर्य में केवल दिन और रात की कल्पना है, विचार करने पर सूर्य से भिन्न होकर कोई वस्तु नहीं है।

"अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥"

यदि बन्ध नाम की कोई वस्तु ही नहीं, तो फिर उसकी निवृत्ति ही कैसे तात्त्विक हो सकती है? इसी अभिप्राय से शुद्ध आत्मस्वरूपपरिनिष्ठित महापुरुष बन्ध और मोक्ष दोनों को ही अतात्त्विक समझकर सर्वनिरपेक्ष होकर आत्मरति सम्पादन करते हैं।

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥'

अर्थात् वास्तव में न निरोध है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है, न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त है। अनन्त, अखण्ड, शुद्ध, अद्वैत ही परमार्थ तत्त्व है। इस दृष्टि से अद्वैतवादियों की दृष्टि में मोक्ष नगण्य ही है। परन्तु यदि इसी तत्त्व को एक दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय, तो मोक्ष परमार्थभगवत्स्वरूप ही ठहरता है। अविद्यालक्षण बन्ध की निवृत्ति मुक्ति है। इस पक्ष में भी यही शङ्का होती है कि यह बन्धनिवृत्ति सती है या असती? सत्स्वरूप कहने से उसमें साधन की व्यर्थता आती है, असत्स्वरूप कहें, तो खपुष्पादिवत् साध्यता अनुपपन्न रहती है। तीसरा पक्ष इसलिए अनुपपन्न है कि एक में सदसत्स्वरूपता अनुपपन्न है। इस तरह अनेक पक्ष उठने के बाद यह कहा गया है कि अधिष्ठानस्वरूप अन्तरात्मा ही बन्धनिवृत्ति है। परन्तु यहाँ भी सन्देह होता है कि आत्मा तो नित्य ही है, अतः यदि आत्मरूप ही बन्धनिवृत्ति है, तब तो उसके लिए साधनानुष्ठान व्यर्थ ही है। इस का समाधान यह है कि ज्ञात आत्मा ही बन्धनिवृत्ति है, केवल आत्मा नहीं। अतः साधनानुष्ठान से ज्ञानोत्पादन द्वारा आत्मा में ज्ञातता उत्पन्न की जाती है।

इस पर भी यह आक्षेप होता है कि फिर तो उत्पन्न होनेवाले अन्तःकरण-वृत्तिरूप ज्ञान के नष्ट होने पर आत्मा की ज्ञातता भी अवश्य ही नष्ट होगी, अतः बन्धनिवृत्तिरूप मुक्ति भी अनित्य ही रहेगी। यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे कारीरीयाग का फल आसन्नकालविशिष्ट वृष्टि न होकर आसन्नकालोपलक्षित वृष्टि ही है, वैसे ही ज्ञातता उपलक्षित चिदात्मा ही बन्धनिवृत्ति है। तत्त्वज्ञान के पहले आत्मा सावरण रहता है,तत्त्वज्ञान के उत्पन्न होने पर अनादि,अनिर्वचनीय आवरण नष्ट होने पर वह निरावरण हो जाता है। वह वह निरावरण ब्रह्म ही बन्धनिवृत्ति या मोक्ष है। इसी अभिप्राय से वेदान्तियों का कहना है कि अज्ञात प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा ही वेदान्त का विषय है और ज्ञात होने पर वही वेदान्त का प्रयोजन है। अतएव आत्यन्तिक अनर्थ की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष परमात्मस्वरूप ही ठहरता है। प्राप्ति भी उसकी उसी प्रकार है, जैसे विस्मृत कण्ठमणि की प्राप्ति। अतएव प्रल्हाद प्रभृति भक्तों ने अपने श्रीहरि को अपवर्गरूप माना है। अन्यथा यदि मुक्ति स्वप्रकाश परमानन्दस्वात्मक भगवान् से भिन्न हो, तब तो अद्वैतवादियों का अद्वैतभङ्ग होना अनिवार्य ही होगा।

शून्यवादियों के मत से प्रदीपकल्प विज्ञानात्मा का मिट (बुझ) जाना ही मुक्ति या निर्वाण है, परन्तु वेदान्ती की दृष्टि से तो प्रदीप का भी बुझना अत्यन्त मिटना नहीं है। जो व्यापक अग्नि घृतवर्तिका के सम्पर्क से दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट प्रदीपशिखा के रूप में व्यक्त था, वही अपने सोपाधिक रूप को छोड़कर निरुपाधिक विशुद्ध अग्नि के

रूप में अवस्थित होता है। ठीक उसी तरह बुद्धि आदि उपाधि के सम्पर्क से जीवभावापन्न चिदात्मा सोपाधिक स्वरूप से मुक्त होकर निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है। ऐसी स्थिति में स्वप्रकाश व्यक्तभावापत्ति, शुद्ध स्वरूप या ज्ञान किंवा निरावरण ब्रह्मरूप मुक्ति भगवत्स्वरूप ही ठहरती है। अतएव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'अन ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि वचनों के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति को ही ब्रह्मविज्ञान का फल कहा गया है।

"सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते"

"ते प्राप्नुवन्ति मामेव', 'विशते तदनन्तरम्"

इत्यादि गीतावचनों से भी यही तत्त्व सिद्ध होता है। यदि ब्रह्मरूप ही मुक्ति है, तब तो ब्रह्म अनन्त परमानन्दरूप है, उससे भिन्न उससे बड़ी दूसरी वस्तु की कल्पना भी नहीं हो सकती। निरतिशय बृहत् एवं स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप ही तो ब्रह्म है। अतः जिस वस्तु में निरतिशय बृहत्ता और निरतिशय आनन्दस्वरूपता की कल्पना होगी, वही ब्रह्मस्वरूप माना जायगा। ऐसी स्थिति में मुक्ति से बड़ी कोई वस्तु है—इसका अर्थ यह होगा कि अनन्त ब्रह्मरूप भगवान् से भी बड़ी कोई वस्तु है। जो ब्रह्म से भिन्न और बड़ा कुछ मानते हैं, यह उनकी श्रद्धामात्र है, क्योंकि दृढ़ प्रमाणशून्य अर्थ में विवाद व्यर्थ होता है। वस्तुतस्तु—

"यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्"

इत्यादि श्रीमद्भागवत के पद्यों में परमानन्द पूर्ण परब्रह्म को ही भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों, उपनिषदों, ब्रह्म-

श्रुतों एवं गीताओं का परम पर्यवसान एक, अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश ब्रह्म में ही है। यदि उससे भिन्न तत्त्व ही भगवान् माना जाता हो, तो वैदिक तो उसे मानने में असमर्थ ही रहेंगे। ऐसी स्थिति में मुक्तिप्राप्ति तथा भगवत्प्राप्ति एक वस्तु होती है। अतः मुक्ति से वैराग्य मानो भगवान् से ही वैराग्य होगा। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति तक तो वैराग्य में है, अतः उससे वैराग्य उचित ही है, परन्तु भगवद्रूप मुक्ति से वैराग्य सचमुच तत्त्वानभिज्ञता ही है।

जो भगवान् प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद हैं, उनसे वैराग्य कैसा? फिर भगवान् में राग को ही तो भक्ति कहते हैं। *भगवत्स्वरूप मुक्ति से भक्ति में बड़प्पन की कल्पना और मुक्तिस्पृहा को* पिशाची कहना कहाँतक सङ्गत है, क्योंकि, मुक्तिराग और भगवद्राग तो एक ही वस्तु है और वही भक्ति है। रागास्पद से राग का बड़प्पन कहा जा सकता है, तो भगवद्रूप मुक्ति से भक्ति को भी बड़ा कहा जा सकता है। मुक्ति या भक्ति की भगवान् को प्राप्त पुरुषों को स्पृहा न हो, यह भी असम्भव है, क्योंकि भगवान् तो सदा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञानी या मुक्त भक्ति की उपेक्षा करता है। आत्मरति और आत्म-क्रीड़ इत्यादि प्रकार से वर्णित रसस्वरूप भक्ति तो भगवत्स्वरूप ही है। उसमें उत्कर्षापकर्ष की कल्पना या उपेक्षा की सम्भावना नितान्त भ्रम-मूलक है।

रही भगवदाकाराकारित स्निग्ध अन्तःकरणवृत्तिरूप भक्ति की बात, वह भी कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकती। पहले तो इसी के प्रभाव से

सब कुछ हुआ और इसी के प्रभाव से ज्ञान में भी सरसता है। किसी भावुक ने कहा है—

"अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीड़ामृगीकृतम्॥"

कोई निराकार, निर्विकार परब्रह्म को भजते हैं, कोई सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की वन्दना करते हैं, पर मैं तो उस अद्भुत प्रेमबन्धन की वन्दना करता हूँ, जिसमें बँधकर अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त प्राणियों को मुक्ति प्रदान करनेवाला और स्वयं शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परब्रह्म भक्तों का खिलौना क्रीड़ामृग हो जाता है। इस तरह जब शुद्ध ब्रह्म से प्रेमबन्धन (भक्ति) की महिमा बढ़ जाती है, तब तो मुक्ति से भी उसकी महिमा का बढ़ना युक्त ही है।

निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद भगवान् सभी के अन्तरात्मा हैं, सभी के प्रिय हैं, फिर भी भक्ति के बिना वे नीरस ही से रहते हैं। सरसता का लेश भी उन में नहीं भासित होता।

"व्यापक ब्रह्म बिरज अविनासी, सत चेतनघन आनन्दरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपण नाम जतन ते, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते"॥

कंस, शिशुपाल, और दन्तवक्त्र को भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन होता था, फिर भी प्रेम के बिना उन्हें उनमें सरसता का भान नहीं होता था। प्रेम का सम्बन्ध होने से साधारण वस्तु में भी सरसता का भान होने लगता है। इस तरह प्रेम का महत्त्व स्पष्ट है।

इसके सिवा भक्तितत्त्व एक ऐसी वस्तु है जिसके आशीर्वाद के

बिना ज्ञान, ध्यान और मुक्ति आदि का प्राप्त होना अत्यन्त असम्भव है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति आदि भले ही भक्ति के फल हों, फिर भी बुद्धिमानों की दृष्टि में भक्ति का मूल्य मुक्ति से भी अधिक होता है। जैसे—यद्यपि अर्थ (धन) का फल धर्म और काम (भोग) ही है, फिर भी बुद्धिमान् या कृपण धर्म और भोग की उपेक्षा करके किंबहुना प्राणान्त कष्ट सहन करके भी धन की रक्षा करता है। उसकी दृष्टि यही है कि यदि अर्थ बना रहेगा, तो जब चाहेंगे तभी धर्म और भोग सम्पन्न हो सकेंगे। जैसे हीरकादि रत्नों के रहने पर समस्त पदार्थ सुलभ होते हैं, वैसे ही भक्ति के रहने पर सभी पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। किं बहुना ज्ञान और वैराग्य, जो कि मुक्तिप्राप्ति के मूल हैं, ये भी तो महारानी भक्ति के पुत्र ही हैं और सदा उन्हें भक्ति के शुभाशीर्वाद की अपेक्षा रहती है। इसीलिए सन्तजन मुक्ति की परवाह न करके भक्ति को चाहते हैं—

'अस विचारि हरिभगत सयाने, मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने"।

चिन्तामणि भक्ति से ही चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति सुगमता से हो जाती है—

"यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा" ॥

कर्म, ज्ञान और वैराग्य आदि से प्राप्त होनेवाली सभी वस्तुएँ भक्ति से प्राप्त हो सकती हैं। अतिदुर्लभ कैवल्य परमपद भी भक्ति की महिमा से न चाहते हुए भी प्राप्त होता है—

'अतिदुर्लभ कैवल्य परम पद, वेद पुराण निगम आगम वद'।
"भक्ति करत सोई मुक्ति गुसाईं, अन इच्छित आवै बरियाईं" ॥

जैसे स्थल के विना जल टिक ही नहीं सकता, वैसे ही भक्ति के विना मोक्ष हो ही नहीं सकता—

'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई, तथा मोक्षसुख सुनु खगराई'।

जितने भी व्यापार होते हैं, सभी साधन से ही सफल होते हैं, साध्य-गोचर व्यापार होता ही नहीं। कुठार के उद्यमन-निपातन से ही काष्ठ का द्वैधीभावरूप फल सिद्ध होता है। अतः उस मूल में ही आदर होना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से मुक्ति से भी या भगवान् से भी अधिक भक्ति का महत्त्व गाया जाता है। इन्हीं आशयों से भावुकों का कहना है कि मुक्ति में तो भक्त भगवान् हो जाता है, परन्तु भक्ति से तो भक्त भगवान् को वश में कर लेता है। इसीलिए सर्वाधिक आकाङ्क्षा भक्त को भक्ति की ही होती है—

'धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहौं निर्वाण।
जन्म जन्म रति रामपद यह बरदान न आन ॥'

(मा० सन्मार्ग २।७)।

———

भक्ति का साधन

भक्तिशास्त्र में भक्ति के अनेक भेद कहे गये हैं। लोग वैसे भी साधन-भक्ति और साध्यभक्ति इस तरह उसके दो भेद मानते हैं। परन्तु, यहाँ जो दो भेद बतलाये जा रहे हैं, वे हैं वैधी और रागानुगा। विधि वहाँ होती है, जहाँ अत्यन्त अप्राप्ति हो—"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ।" कामुक की कामिनी में स्वाभाविक अनुरक्ति होती है, वहाँ विधि की आवश्यकता नहीं है। भगवान् में स्वाभाविक अनुरक्ति नहीं है, अतः वहाँ विधि की आवश्यकता होती है। अतः शास्त्रों में उसका विधान पाया जाता है कि जिसे अभयप्राप्ति की इच्छा हो, उसे सर्वात्मा, परमेश्वर हरि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए—

"तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥"

वैधीभक्ति के लिए भगवान् का ऐश्वर्यमय रूप होना चाहिए। वैसे तः भगवान् के अनन्त रूप हैं, पर उनका विभाग तीन प्रकार से किया जा सकता है–निर्गुण निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार। इन तीनों रूपों का वर्णन इस एक श्लोक में आ जाता है—

."स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः।
यलिं हरद्भिश्चिरलोकपालकिरीटकोटीडितपादपीठः॥"

(स्वयं राजते शोभते इति स्वराट् आत्मा, तस्य भावः स्वाराज्यम्।

तदेव लक्ष्मीस्तया आप्ताः समस्ताः कामा यस्यासौ स्वाराज्यलक्ष्म्या-प्तसमस्तकाम·)

भगवान् स्वयं अपनी सत्ता से ही आप्तसमस्तकाम हैं (साम्यञ्च अतिशयश्च न विद्यते यस्यासौ असाम्यातिशयः)। भगवान् के न तो कोई समान ही है, न अधिक ही। समानता और अतिशयता की यह बात तो तब होती, जब दो ईश्वर होते। दो ईश्वर किसी भी युक्ति से सिद्ध नहीं होते, क्योंकि दोनों को ही सत्यसङ्कल्प और सर्वशक्तिमान् मानना पड़ेगा। दोनों का काम सलाह से होता है या स्वतन्त्र ? यदि सलाह से, तो फिर ईश्वर नहीं वह तो एक पञ्चायत हुई। यदि दोनों स्वतन्त्र काम करते हैं, तो सर्वदा दोनों की इच्छाएँ एकसी ही हों यह कोई नियम नहीं है। कल्पना कीजिये कि एक की इच्छा जिस क्षण में अनन्तकोटिब्रह्माण्ड के पालन की हुई, उसी क्षण दूसरे की इच्छा संहार की, तो क्या दोनों परस्परविरुद्ध इच्छाएं एक साथ सफल होंगी ? ऐसा तो हो नहीं सकता। यदि दोनों का बल परस्परसङ्घर्ष में शान्त हो गया, तो कोई भी ईश्वर नहीं ठहरेगा। यदि एक की इच्छा बलवती हुई, तो वही सत्यसङ्कल्प, सर्वशक्तिमान् हुआ, दूसरा नहीं। इस तरह एक ही ईश्वर ठहरता है। इसी बात को श्रुति ने भी कहा है-'न तत्समश्चाभ्यधिकः कुतोऽन्यः'। वे भगवान् अधि-आत्म, अधि देव, अधि भूत अथवा स्थूल,सूक्ष्म और कारण तीनों जगत् के स्वामी हैं। "स्वयं स्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीश." से निर्गुण निराकार, निर्विकार रूप तथा "स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः" से अनन्तकल्याणगुणगणनिलय सगुण निराकार रूप कहा गया है। अनन्तकोटि कन्दर्पदर्पदमनपटीयान्, अनन्त

कल्याणगुणगणनिलय, मधुर, मनोहर, सौन्दर्यसुधासिन्धु, भगवदीय मङ्गलमय सगुण-साकार विग्रह के लिए क्या कहा जाय! उस रूप को तो भक्त जैसा चाहें वैसा बनाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि संसार को बनायें भगवान् और भगवान् को बनायें भक्त—

"यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।"

भगवान् तो निर्गुण, निराकार, निर्विकार हैं। भक्तलोग अपने चित्त से जिस जिस रूप की भावना करते हैं, भगवान् भक्तों पर अनुग्रह करके वही रूप धारण करके भक्तों को दर्शन देते हैं। एक सगुण-साकार रूप से भगवान् वैकुण्ठधाम में विराजते हैं। उस स्वरूप के अनन्तगुणाश्रयत्व एवं महामहिम ऐश्वर्यसम्पन्नत्व का वर्णन 'बलि हर द्भिश्चिरलोकपालकिरीटकोटीडितपादपीठः' से किया गया है। भगवान् के श्रीचरणों की कोमलता लोकोत्तर है। अनन्तकोटिकन्दर्पदर्पदलनपटीयान् मङ्गलमय भगवान् के जिन चरणारविन्दों को मृदिमाधिष्ठात्री महालक्ष्मी-यह सोचकर कि मेरा हस्त बहुत कठोर है, भगवान् के चरणारविन्द अति कोमल हैं, कहीं उन पर मेरे हाथों से आघात न हो जाय—अपने हस्तारविन्द से स्पर्श करने में सङ्कुचित होती है, उन चरणारविन्दों को देवाधिदेवश्रियोऽपि अपने कठोर किरीट के अग्रभाग से कैसे स्पर्श करें! अतः वे भगवान् के चरणारविन्द के आश्रय महार्हरत्नजटित पादपीठ का ही स्पर्श करते हैं और अपने को धन्य समझते हैं। इतना ऐश्वरीय ज्ञान होने पर भी उनको न भजने से पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि अनेक अनर्थ-परिप्लुत भीम भवाटवी में भटकना पड़ेगा, इस अनर्थ का बोध होने से प्राणी को वैधीभक्ति का आश्रय लेना पड़ता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि भगवान् के साकार होने का कारण क्या है ? इस पर कहा जा सकता है कि पहला कारण परमहंस, महामुनीन्द्रों को 'श्रीपरमहंस' बनाने के लिए भगवान् का अवतार होता है—

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥"

केवल रावण और कंस जैसे राक्षसों को मारने के लिए भगवान् का अवतार नहीं होता । मशक को मारने के लिए तोप का प्रयोग क्यों ? अनन्तकोटिब्रह्माण्ड का क्षणमात्र में उत्पादन, पालन, संहार करनेवाली मायानटी जिनके भ्रुकुटि-विलासमात्र से नाचती है, वे सत्यसङ्कल्प, सर्वशक्तिमान् भगवान् रावणादि का संहार सङ्कल्पमात्र से कर सकते हैं । इसीलिए तो कहा गया है कि "किं तस्य यान् हनने कपयः सहायाः" । जो पृथिवी में रहनेवाले यक्ष, राक्षस, गन्धर्वों को अङ्गुली के अग्रभाग से समाप्त कर सकता है, जो कि "जग में सकल निशाचर जेते, लक्ष्मण हने निमिषमहं तेते" का उद्घोष करता है, उस को शत्रु मारने में वानर और भालुओं की क्या अपेक्षा ! भगवान् का मर्त्य अवतार मनुष्यों की शिक्षा के लिए होता है—

"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।"

अतः कहना पड़ता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग विधान के लिए ही भगवान् का अवतार होता है । जिन्होंने अपने हृदय से राग को जड़-मूल से खो दिया है, उनके हृदय में राग उत्पन्न करने के लिए होता है । "रामप्रेम बिनु सोह न ज्ञाना" भगवद्भक्ति के बिना

ज्ञान शोभित नहीं होता—'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्"।

वह स्वरूप ऐसा सुन्दर होता है कि भगवान् स्वयं अपनी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता भूलकर उस रूप को देखते ही नाच उठते हैं—

"रूपराशि छवि अजिरविहारी, नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।"

जनकजी भी तो कहने लगे—

"इनहिं विलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा।"

वह रूप स्वयं ही भगवान् को विस्मय करानेवाला होता है—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्"।

परमहंसों को भक्तियोग जहाँ हुआ कि वे 'श्रीपरमहंस' हुए। एक हंस तो होते हैं सांख्यवादी, जिन्होंने प्रकृति-पुरुष को सर्वथा नीर क्षीर के समान पृथक् पृथक् समझ लिया है। दूसरे परमहंस होते हैं वे, जिनकी दृष्टि में अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपञ्च रहता ही नहीं। उनकी अवस्था होती है—

"जेहि जाने जग जाय हेराई, जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई।"

उनके हृदय में भक्ति का अङ्कुर उत्पन्न होते ही वे 'श्रीपरमहंस' हो जाते हैं। भक्ति और ज्ञान का पारस्परिक विरोध अनभिज्ञ लोग समझते हैं। 'श्रीमद्भागवत-माहात्म्य' में लिखा है कि भक्तिमाता के ज्ञान और वैराग्य ये दो पुत्र हैं। माँ अपने पुत्र का सर्वदा महत्त्व देखना चाहती है। भक्तिमाता कब चाहेगी कि हमारा पुत्र ज्ञाननिर्बल, असमर्थ रहे! पुत्र भी चाहे कितना ही बड़ा हो जाय, माता का सम्मान सर्वदा करता है।

परमहंसपरिव्राजकाचार्य संन्यासी का पिता तो अपने पुत्र संन्यासी को प्रणाम करता है, पर यदि माता मिले, तो परमहंस-परिव्राजकाचार्य संन्यासी अपनी माता को दण्डवत्-प्रणाम करता है। ज्ञान कितना भी बड़ा हो जाय, माँ भक्ति का तो सम्मान वह सर्वदा करेगा ही। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम महामुनीन्द्र भी भगवान् की भक्ति करते हैं। यदि पूछा जाय क्यों, तो इसका उत्तर शास्त्र यही देते हैं - 'इत्थंभूतगुणो हरिः'। इसी भक्ति को 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति गोपाङ्गनाओं को थी। वे कहती हैं कि पुरुषभूषण, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र से जो सुभ्रू अपने हृदय को भूषित नहीं करती, उसके कुल, शील, रूप, गुण आदि को धिक्कार है—

'ईदृशाः पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक्तदीयकुलशीलयौवनं धिक्तदीयगुणरूपसम्पदः॥'

मजाङ्गनाओं का इतना निःसीम अनुराग है कि वे घबराकर अपना मन भगवान् की ओर से हटाना चाहती हैं। मुनिलोग धारणा, ध्यान आदि के द्वारा विषयों से मन हटा-हटाकर जहां जोड़ना चाहते हैं, गोपाङ्गनाएँ वहाँ से मन हटाकर विषयों में लगाना चाहती हैं। योगीन्द्र-मुनीन्द्र क्षणमात्र हृदय में जिस की स्फूर्ति के लिए उत्कण्ठित होते हैं, वे मुग्धाएँ उसी को हृदय से निकालना चाहती हैं—

'प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्ति माकाङ्क्षति॥'

• •

जिसे ऐसी भक्ति प्राप्त है, उसके सौभाग्य का क्या कहना ? पर उस स्वाभाविकी भक्ति की प्राप्ति भी भगवत्कृपा पर अवलम्बित है और भगवत्कृपा भगवदाज्ञाभूत श्रुति-स्मृत्युक्त स्वस्वकर्तव्य के पालन पर ही निर्भर है। अतएव भगवद्भक्ति के सम्पादनार्थ भी शास्त्रोक्त कर्तव्यों का अनुष्ठान परमावश्यक है। (सिद्धान्त ७४)।

१

दास्ययोग

इस स्वतन्त्रता-युग में 'दास्ययोग' का उपदेश! पर सचमुच जो भगवान् की दासता में सुख तथा शान्ति है, वह संसार के सम्राट् बनने में कहाँ? भगवान् अखिलब्रह्माण्डनायक हैं, उनकी दासता में सबसे बड़ी विलक्षणता तो यह है कि दास अपनी सच्ची सेवा से उनका सखा ही नहीं, हृदयेश्वर तक बन जाता है। 'दासोऽहम्' कहते कहते 'सोऽहं' की नौबत आ जाती है और गोपीवस्त्रापहारी भगवान् हठात् 'दासोऽहम्' के 'दा'-कार को चुरा लेते हैं —

"दासोऽहमिति या बुद्धिः पूर्वमासीज्जनार्दने।
दाकारोऽपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा॥"

भगवान् की सेवा कठिन होते हुए भी बड़ी सरल है। वे तो थोड़े ही में प्रसन्न हो जाते हैं। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम भगवान् को धन, जन, विद्या, बल आदिकों की अपेक्षा ही क्या है? सन्देह होता है कि यदि ऐसी बात है, तो भगवान् स्वयं ही भक्तों को अपने सर्वस्वसमर्पण का आदेश क्यों करते हैं—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

हे कौन्तेय! तुम जो कुछ भी यज्ञ, तप, दानादि लौकिक, वैदिक धर्म कर्म करते हो, वह सब मुझ सर्वान्तरात्मा को समर्पण कर दो। इसका समाधान तो यही है कि प्रभु स्वयं तो निजनाम् (स्व-

स्वरूपभूत अनन्त परमानन्दलाभ) से ही परिपूर्ण हैं, परन्तु भक्त की कल्याणकामना से ही उसकी समर्पित सपर्याओं का ग्रहण करुणा से करते हैं, क्योंकि प्राणी जो कुछ भगवान् के पादपङ्कज में समर्पण करता है,वही उसे मिलता है। जैसे दर्पणादि के भीतर प्रतिमुख (मुख-प्रतिबिम्ब) को यदि कटक, मुकुट, कुण्डलादि भूषण वसन पहनाकर शृङ्गार करना हो, तो मुख (बिम्ब) का ही शृङ्गार करना आवश्यक है। बिम्ब के शृङ्गार से प्रतिबिम्ब अनायास ही शृङ्गारित हो जाता है, अन्यथा विश्वभर के शिल्पी (कारीगर) भी प्रतिबिम्ब को मुकुट, कुण्डलादि पहनाने में असमर्थ ही रहेंगे। ठीक इसी तरह कोई भी प्राणी अपने पारलौकिक अभ्युदय, निःश्रेयसादि पुरुषार्थों की प्राप्ति तभी कर सकता है, जब श्रद्धा-भक्ति से प्रभु पदपङ्कज की सपर्या करे। माना कि आज कोई साम्राज्य, वैराज्यादि अनेक आनन्द सामग्रियों से परिपूर्ण है, परन्तु इस विनश्वर शरीर का पात होने पर कहाँ जायगा, कैसे और क्या करेगा! कोई भी ऐसा व्यक्ति या संस्था नहीं है, जहाँ हम अपनी धरोहर रखें और जन्मान्तर में फिर ग्रहण कर सकें। एकमात्र यही उपाय है कि भगवान् के शास्त्रानुसार यज्ञ-तप दानादि से भगवान् की सपर्या करके भगवान् में ही उन्हें समर्पण किया जाय। करुणामय, सर्वस्व, सर्वसामर्थ्य, सर्वप्रद भगवान् ही प्राणियों की भक्ति श्रद्धा से सम्पादित आराधनाओं का परममनोहर फल प्रदान करते हैं। इसलिए यद्यपि स्वतः "नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः" के अनुसार प्रभु किसी का पुण्य पाप ग्रहण नहीं करते, तथापि अपनी अचिन्त्य, अनन्त दिव्य लीलाशक्ति से भक्त-कल्याण-कामना से भक्तसम्पादित सम्भारों को ग्रहण करते हैं। इतना

ही नहीं, प्रत्युत पुनः पुनः भक्त को प्रोत्साहित करते हैं कि तुम सब कुछ मुझ में ही समर्पित कर दो। भगवान् यह भी कहते हैं कि जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल मुझ को समर्पण करता है, मैं उसे अनन्य आदरसे ग्रहण किंवा अशन करता हूँ। यद्यपि पत्र, पुष्प खाद्य पदार्थ नहीं है, तथापि प्रभु भक्तिरसपरिप्लुत पत्र-पुष्पादिकों को भी खाते हैं। भक्त-भावना-पराधीन, प्रेमविभोर भगवान् विवेकहीन मुग्ध शिशु के समान पत्र-पुष्पादि को भी खा लेते हैं। किंवा रसिकेन्द्रशेखर, रसराजमणि भगवान् भक्ति-रसपरिप्लुत पत्र-पुष्पादि का स्वाद रसना से ही लेना उचित समझते हैं। तभी तुलसीदल एवं जलचिल्लुक से ही भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के हाथ अपने-आप को बेंच देते हैं—

> "तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
> विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥"

इतना ही क्यों, प्रेममय प्रभु तो नवनीत और दधि के लिए प्रेममयी व्रजाङ्गनाओं के घर चोरी भी करने जाते हैं। क्षीरसागरशायी एवं परमानन्दसुधासिन्धु किंवा पूर्णानुरागरससागर भगवान् को—

> "अहीर की छोहरियां छछिया भरि छांछ पर नाच नचावैं।"

किसी दिन नवनीत चुराकर आतप-सन्तप्त भूमि पर दौड़ते हुए कृष्ण को देखकर कोई स्नेहविह्वला सौभाग्यशालिनी व्रजाङ्गना कहती है—

> "नीत यदि नवनीत नीत नीत किमेतेन।
> आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव॥"

नवनीत चुरा लिया तो क्या हुआ, भले ले लिया, परन्तु हे माधव!

आतप (धूप) में तपित भूमि पर मत भागो, मत दौड़ो। एक प्रेमी तो बड़ी सुन्दर सलाह देते हैं—

"क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम घनान्धतामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे॥"

हे प्रेममय नन्दनन्दन! यदि आप ने नवनीत चुराकर माँ की डर से पलायन ही स्वीकार किया, तब तो फिर आओ नाथ! मेरे गाढ़ अज्ञानान्धकारसमाच्छन्न मानस में मैं तुम्हें छिपा लूँ, बस फिर तुम्हें कोई नहीं देख सकेगा। यह आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम प्रभु की सकामता केवल भक्तमनोनुगामिनी लीलाशक्ति के प्रभाव से ही है।

"नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने।
कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने॥"

अनन्तकोटि कन्दर्पों के मनोहरण करनेवाले नवघनश्याम भगवान् के लिए नमस्कार है, जो कि कमला की कामनावाले सुदामा के तण्डुल की कामना करते हैं।

प्रभु को प्रसन्न करने के लिए धन, उत्तम कुल, रूप, तप, व्रत, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धियोग ये सब पर्याप्त नहीं हैं। गजेन्द्र पर तो इन पूर्वोक्त धनादि के बिना भी भगवान् सन्तुष्ट हो गये। इतना ही नहीं, भगवत्पादारविन्द-विमुख, द्वादशगुणसम्पन्न ब्राह्मण भी नगण्य है और भगवत्पादपङ्कजानुरागी श्वपच भी आदरणीय होता है, क्योंकि वह भूरिमान विप्र आत्मशोधन भी नहीं कर सकता और वह श्वपच तो कुल-सहित अपने को मुक्त कर लेता है। यद्यपि कहा जा सकता है कि साक्षात् भगवान् ने श्रीमुख से ही कहा है—

"ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह ।
विद्यया तपसा तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥"

समस्त प्राणियों में ब्राह्मण जन्म से ही श्रेष्ठ है, फिर विद्या, तपस्या, सन्तोषरूप मेरी कलाओं से युक्त ब्राह्मणों के विषय में तो कहना ही क्या ?

"न ब्राह्मणान्मे दयित रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥"

अर्थात् मुझे अपना यह चतुर्भुज रूप भी ब्राह्मण से अधिक प्रिय नहीं है। सर्ववेदमय ब्राह्मण है और सर्वदेवमय मैं हूँ। फिर ब्राह्मण से श्वपच की श्रेष्ठता कैसे कही जा सकती है ? तथापि भक्ति के बिना अत्यन्त पूज्य ब्राह्मण भी निन्द्य है और भक्तियुक्त अतिसाधारण श्वपच भी आदरणीय है। यह कहकर भक्ति का ही माहात्म्य वर्णन किया गया है। यहां ब्राह्मण की निकृष्टता-वर्णन में तात्पर्य नहीं है, वास्तव में सिद्धान्त तो यह है कि जैसे गौ, तुलसी, अश्वत्थ, गङ्गाजल आदि पदार्थ भले ही अपनी दृष्टि से अकृतकृत्य हों, परन्तु पूजकों के तो परमकल्याण के ही निदान हैं। गौ स्वयं पशु होने के कारण चाहे आत्मकल्याण करने में असमर्थ ही हो, परन्तु शास्त्रानुसार उस के रोम-रोम में देवताओं का निवास है और उस के पञ्चगव्य तथा रज से अवश्य ही सर्वपापक्षय होता है। इसी तरह जन्मना श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजक का कल्याण कर सकने पर भी यदि स्वयं स्वधर्मनिष्ठ या भगवत्परायण न हुआ, तब तो वह आत्म कल्याण नहीं कर सकता। पूजकों की श्रद्धा सुदृढ़ करने के लिए शास्त्रों में सर्वगुणनिरपेक्ष जन्म से ही ब्राह्मण को श्रेष्ठ बतलाया गया है और

ब्राह्मण कहीं जन्मना ब्राह्मणत्व के ही गर्व से स्वधर्मबहिर्मुख न हो जाय, अतः उस के लिए यह कहा गया है कि भगवान् से विमुख ब्राह्मण की अपेक्षा तो भगवद्भक्त श्वपच भी श्रेष्ठ है। इस तरह निन्दापरक वचन ब्राह्मणों को सावधान करने के लिए हैं और स्तुतिपरक वचन पूजकों की श्रद्धा स्थिर करने के लिए हैं। परन्तु मोहवश आज ब्राह्मण तो स्तुति-परक और पूजक निन्दापरक वचनों को ही सामने रखते हैं।

अस्तु, यह दास्ययोग का ही अद्भुत महत्त्व है कि जिसके बिना विप्र भी अकृतार्थ रहता है और जिसके सम्बन्ध से श्वपच भी कुलसहित कृतार्थ हो जाता है। धन, जन, गेहादि निज सर्वस्व तथा अपने आप को प्रभु में समर्पण करके श्रद्धास्नेहपुरःसर प्रभुपादपङ्कजसेवन ही दास्ययोग है। प्रभु के परमानन्दरसात्मक मधुर स्वरूप, गुण, चरित्रादि में मन की गाढ़ आसक्ति ही मुख्य सेवा है। इसी की सिद्धि के लिए वर्णाश्रमधर्म, यज्ञ, तप, दान आदि परमावश्यक हैं। तन, मन, धन से भगवत्सेवा में तत्पर सेवक सिवा भगवान् के किसी वस्तु को अपना नहीं समझता। वह धर्म, कर्म, समाज-सेवा आदि सभी कुछ भगवान् के ही लिए करता है, निखिल विश्व को अपने भगवान् का ही रूप समझकर उसकी सेवा करता है। सोते जागते सदा ही अनन्य सेवक के समस्त व्यापार केवल स्वामी के लिए ही होते हैं। भगवान् का विश्व और उनके भक्त भगवदीय हैं। भगवदीय सेवा से भगवत्सेवा प्राप्त होती है। इसलिए भगवान् का दास भगवदीयसेवा में बड़ा स्नेह रखता है। वास्तव में यदि किसी सौभाग्य शाली को निष्कपट दास्ययोग मिल जाय, फिर तो उसे कुछ भी कर्तव्य अव-शिष्ट नहीं रहता। भगवत्पादपङ्कज में जिसका मनोमिलिन्द आसक्त है,

वह तो निश्चिन्त अनन्य रहता है। जो दशा पुत्रवत्सला माँ के उत्सङ्ग-लालित शिशु की है, वही सेवक की है। वे प्रभु के भरोसे ही अनन्य असोच रहते हैं—

"सेवक सुत पितु मातु भरोसे, रहहिं असोच बने प्रभु पोसे।"

भगवान् में आत्मनिवेदन करने से बढ़कर शोकनिवृत्ति का और उपाय ही क्या है! अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के माता-पिता भगवान् के शरणागत सेवक को फिर आँच कहाँ! शरणागत के लिए ही तो भगवान् का "मा शुचः" यह आश्वासन है। सेवाभक्ति का ऐसा महत्त्व है कि भगवद्भावनापन्न मुक्त सन्त भी मुक्ति की ओर न देखकर सेवाभक्ति चाहते हैं। तभी तो श्रीप्रह्लाद पूर्ण कृतकृत्य होकर भी भगवदीयों तथा भगवान् की सेवा का वर मांगते हैं।

तुलसी-रामायण के राम

गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरित-मानस' के राम कौन हैं, इसका उत्तर यही है कि जो व्यापक, ब्रह्म,निरञ्जन,निर्गुण,विगतविनोद है, वही अज, अव्यक्त अपनी दिव्य लीला-शक्ति से सगुण, साकार सच्चिदानन्द घनरूप में प्रकट हुए हैं। मनु और शतरूपा ने ऐसे ही परब्रह्म का साकार रूप में दर्शन करना चाहा था—

"नेति नेति जेहि निगम निरूपा, चिदानन्द निरुपाधि अनूपा।
अगुण अखण्ड अनन्त अनादी, जेहि चिन्तहिं परमारथवादी।
शम्भु विरञ्चि विष्णु भगवाना, उपजहिं जासु अंश विधि नाना।
जो स्वरूप बस शिव मनमाहीं, जेहि कारण मुनि जतन कराहीं'
जो भुसुण्डि मनमानस हंसा, सगुण अगुण जेहि निगम प्रशंसा।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन.कृपा करहु प्रणतारविमोचन।"

जिसे निगम अतद्व्यावर्त्तक 'नेति-नेति' वचनों से निरूपण करते हैं, जो निरुपाधिक, अनुपमेय चिदानन्दस्वरूप है, जो निर्गुण, अखण्ड और अनादि है, जिसको परमार्थवादी चिन्तन किया करते हैं,जो शिवजी तथा भुशुण्डि के हृदयसर्वस्व हैं, उसी स्वरूप को मनु देखना चाहते थे। वही तत्त्व उन के सामने नीलसरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर श्याम कन्द र्पकोटिकमनीयस्वरूप में प्रकट हुआ। उसी स्वरूप का श्रीमद्राघवेन्द्ररूप में प्राकट्य हुआ था। तुलसी के राम अनन्तकोटि काम से भी सुन्दर, कोटि दुर्गा से भी अधिक अरिमर्दन में निपुण हैं, राम में करोड़ों इन्द्र

से भी अधिक विलास और करोड़ों आकाश से अधिक अवकाश है। सौ करोड़ मरुत् देवताओं से भी अधिक बलवान्, सौ करोड़ सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान् हैं, सौ करोड़ चन्द्रमा से भी अधिक सुशीतल हैं। शतकोटि पाताल के समान प्रभु की अगाध गम्भीरता है। शतकोटि यमराज से अधिक करालता, शतकोटि काल से भी अधिक दुस्तरता, अमित कोटि तीर्थों के समान प्रभु का अघपुञ्जनशावन मङ्गल नाम है। वे शतकोटि हिमाचल की सी अचलता, शतकोटि सिन्धु की सी गम्भीरता, शतकोटि कामधेनु के समान अभीष्टदायकता, शतकोटि शारदा की चतुरता, शतकोटि ब्रह्मा की निर्माणकुशलता, शतकोटि विष्णु की पालनी शक्ति, शतकोटि रुद्र की संहारिणी शक्ति से सम्पन्न हैं। शतकोटि कुबेर से भी अधिक धन-वान्, अनन्त माया के समान प्रपञ्चाश्रय हैं। निगमागमों के महातात्पर्य के विषयीभूत भगवान् राम निरवधि एवं निरुपम हैं। श्रीशिवजी ने इन्हें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की कल्पनाओं का अधिष्ठान बतलाया है। जिस को जान लेने से जगत् हिराय जाता है, जैसे स्वप्नदर्शी के प्रबुद्ध होने पर स्वप्न मिट जाता है—

'जेहि जाने जग जाय हिराई, जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई।"

इसी तरह जगत् श्रीहरि के आश्रित रहता है। यद्यपि यह असत्य है, फिर भी दुःखदायी प्रतीत होता है—

'यहि विधि जग आश्रित हरि रहई,
यदपि असत्य देत दुख अहई।"

अन्यत्र शब्द, स्पर्शादि विषय, उनके ग्राहक इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कारादि अन्तःकरण, उनके सहायक देवता एवं जीव ये

एक दूसरे के प्रकाशक हैं,किन्तु जो सब का परमप्रकाशक है, वही राम है-
"समकर परम-प्रकाशक जोई, राम अनादि अवधपति सोई।"
सारांश यह कि वेदान्तों के महातात्पर्य का विषयीभूत शुद्ध ब्रह्म ही तुलसी-रामायण के राम हैं।

अन्यत्र भासक से भास्य पृथक् ही हुआ करता है,परन्तु तुलसीरामायण की दृष्टि से सम्पूर्ण भास्य भासक में ही कल्पित है। सम्पूर्ण जगत् भास्य कोटि में आ जाता है, स्वप्रकाश अखण्ड भान राम ही भासक होते हैं—

"जगत् प्रकास्य प्रकासक रामू, मायाधीश ज्ञान गुणधामू।"
अधिष्ठानस्वरूप राम का साक्षात्कार होते ही कल्पित जगत् बाधित हो जाता है, यह भी अन्यत्र स्पष्ट है—

"जेहि जाने जग जाइ हिराई, जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई।"
अर्थात् जिस राम को जानते ही विश्व इस तरह बाधित हो जाता है, जैसे जागते ही स्वाप्निक प्रपञ्च मिट जाता है। तुलसीदासजी की दृष्टि में माया, जीव, काल, स्वर्ग, नरक सम्पूर्ण जगज्जाल अविचारितरमणीय है, दृष्टश्रुत होने पर भी विचार करते ही उसमें परमार्थबुद्धि नहीं रह जाती—

"माया जीव कर्म अरु काल, स्वरग नरक जहँ लगि जगजालू।
देखिय सुनिय गुनिय मनमाहीं, मोहमूल परमारथ नाहीं।"

सर्वाधिष्ठान भगवान् के साक्षात्कार से सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है। किंबहुना, सम्पूर्ण जगत् और उसकी जननी माया में अस्तित्व और स्फूर्ति भगवान् से ही प्राप्त होती है—

"जासु सत्यता तें जड़ मायी, भास सत्य इव मोहसहाया।"
जिस की सत्यता से जड़ माया और उसके बच्चे जागतिक प्रपञ्च में सत्यता आती है। यह सब परमार्थिक स्थिति यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है, तथापि अनिर्वचनीय माया की महिमा से प्रपञ्च प्राणियों को अनेक अनर्थों में भटकाया करता है—

'सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोऽपि।
छूटै न रामभजन बिनु, नाथ कहौं पन रोपि॥"

माया, तत्कार्यात्मक जगत् यद्यपि झूठा है, तथापि भगवान् के भजन विना इसका मिटना असम्भव ही है—

"तुलसीदास यह विधि प्रपञ्च जग, यदपि झूठ श्रुति गावै।
रघुपति-कृपा सन्त-सङ्गति बिनु, को भवत्रास नसावै॥"

प्रभुप्रेमी प्राणी तो प्रभु के अनुग्रह से सम्पूर्ण जाग्रत एवं स्वप्नकाल के दृश्य प्रपञ्च को अपने चिदानन्दस्वरूप में लीन करके निद्रा को छोड़कर अर्थात् सुषुप्ति अवस्था से भी अतीत होकर, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मस्वरूप में विराजमान होकर परमानन्द की नींद सोता है—

"सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि योगी।
सो हरिपद अनुभवै परमसुख,अतिशय द्वैतवियोगी॥"

जिस तरह वस्तुतः दर्पण में न होता हुआ ही दर्पणान्तर्गत दृश्य प्रतिबिम्बरूप में प्रतिभासित होता है, वैसे ही स्वप्रकाश अनन्त चिद्रूप दर्पण में ही सम्पूर्ण दृश्य प्रतिबिम्ब के समान ही मालूम पड़ता है। दर्पणग्रहण के विना प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता। वैसे ही अखण्ड भान के ग्रहण केविना दृश्य भी नहीं दिखायी देता। सम्प्रति बिम्बदर्पण-ग्रहण के समान ही सम-

पञ्च भान का ग्रहण होता है। निष्प्रतिबिम्ब दर्पण के समान ही निर्दृश्य दृक् अखण्ड भान परमात्मा का ग्रहण होता है। इसकी सिद्धि के लिए परमावश्यक है कि भगवान् का ध्यान, भजन किया जाय।

वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी भगवान् परमात्मा के भजन के बिना तत्त्व का अनुभव होना बड़ा कठिन होता है। 'श्रीमागवत' ने भी कहा है कि प्रभु के चरणाम्बुजों के प्रसादलेश से अनुगृहीत प्राणी ही भगवान् की महिमा को जान सकता है, दूसरे लोग चिरकाल तक अन्वय व्यतिरेकादि युक्तियों से तत्त्वान्वेषण करने पर भी तत्त्व का स्पर्श नहीं कर सकते—

"अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोपि चिरं विचिन्वन्॥"

जो प्राणी भगवान् की पुण्यगाथाओं का श्रवण करते हुए, अपने अन्तःकरण को पवित्र करते हैं, वे इस सूक्ष्म तत्त्व को जान लेते हैं, जैसे अञ्जन प्रयुक्त चक्षु से सूक्ष्म वस्तु देखी जा सकती है—

"यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥"

भगवान् के चरणपङ्कज में अनुराग से जब गुण-कर्मजन्य चित्त के मलों का नाश हो जाता है, तब उस विशुद्ध चित्त पर ही भगवान् का उपलम्भ हो सकता है। जैसे निर्दुष्ट चक्षु से सविता का स्पष्ट प्रकाश होता है, वैसे ही निर्दुष्ट अन्तःकरण से परमात्मा का स्पष्ट उपलम्भ होता है—

'यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत[1] आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशः सवितृप्रकाशः ॥"

इन्हीं सब बातों को समझकर महात्मा तुलसीदास भी कहते हैं कि यद्यपि विश्वप्रपञ्च, माया आदि मिथ्या ही है, तत्त्व सर्वाधिष्ठान निजात्मतत्त्व ही है, तथापि बिना भगवान् की आराधना किये अनर्थ का मिटना अत्यन्त असम्भव है। अतएव प्राणिमात्र के लिए भगवान् का श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक भजन ही परमकल्याण का मूल है। जो रामभजन के बिना कल्याण चाहता है, वह भले ही कितना बुद्धिमान् हो, परन्तु उसे शृङ्ग पुच्छविहीन पशु ही समझना चाहिये—

"रामभजन बिनु गति चहत,अथवा पद निर्वाण।
ज्ञानवान अति सोपि नर, पशु बिनु पूंछ विषाण॥"
(सिद्धान्त ४।१०)

—

भगवान् कृष्ण और उनके परिकर

एकबार जब महाविष्णु सच्चिदानन्द रामचन्द्र द्विज-देव-समुद्धरण की कामना से वन में गये, तब वहाँ मुनियों का दर्शन किया। मुनिलोग उनके रूप को देखकर मोहित हो उठे। वह ऐसा लोकोत्तर स्वरूप था कि खग,मृग,पशु,पक्षी,तरु,लतातक उसके दर्शन एवं स्पर्श से विभोर हो जाते थे। कहा जाता है कि 'अतिक्रूर प्रकृति के खर, दूषण प्रभृति भी भगवान् के रूप को देखकर मोहित हो गये थे, क्रोधावेश एवं वीररस के उत्तेजक अवसर पर, भगिनी के नाक-कान काटे जाने पर भी रामचन्द्र की मूर्ति को देखकर वे मोहित हो उठे थे। महात्मा तुलसीदासजी के शब्दों में उनका यह कथन था—

"यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, वधलायक नहिं पुरुष अनूपा।"

यद्यपि इन्होंने हमारी बहन के नाक, कान काटकर कार्य बड़ा अनुचित किया है, तथापि इतने अनुपम, सुन्दर पुरुष हैं कि मारने लायक नहीं हैं। ठीक है—

"कहहु सखी अस को तनुधारी,जो न मोह अस रूप निहारी।"

पुरुष-सौन्दर्यावधारण-परायण नारीवर्ग का मोह होना उचित ही था, परन्तु पुरुष भी, वह भी साधारण नहीं, महानिःस्पृह वनवासी, तपस्वी-मुनिवृन्द भी भगवान् के रूप पर मोहित हो उठा, अपने मोह का संवरण न कर सका और भगवान् के स्पर्श की प्रार्थना करने लगा। ठीक है, पुरुषोत्तम परब्रह्म भगवान् का स्पर्श सभी सहृदयों को अभीष्ट है। परन्तु

वह ब्रह्मसंस्पर्श सहज में प्राप्त नहीं होता, परम तपस्या एवं भक्ति से ही प्राप्त होता है। भगवान् ने कहा—"इस रूप से नहीं, जन्मान्तर में आप सब व्रजाङ्गना बनकर कृष्णरूप में हमारा स्पर्श कर सकेंगे, सब देवता गोप-रूप में प्रकट होंगे।" भगवान् के वचन को सुनकर सब प्रसन्न हुए। फिर बहुत काल के अनन्तर साङ्ग, सपरिवार भगवान् का कृष्णरूप में प्राकट्य हुआ। भगवान् का स्वरूपभूत परमानन्द ही 'नन्द' हुए। भगवान् को पुत्ररूप से प्राप्त करके वे सदा आनन्दित रहते थे, इसीलिए वे नन्द कहलाये। मुक्ति देनेवाली ब्रह्मविद्या ही 'यशोदा' कहलायी। यश देनेवाली ब्रह्मविद्या को ही 'यशोदा' कहा गया है—

"यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मौक्तिगेहिनी।'

भगवान् की माया सात्विकी, राजसी, तामसी-भेद से त्रिविध है। सात्विकी माया रुद्र में रहती है, क्योंकि वे रजस्तमोमयादि समस्त कार्य के संहारक हैं। सृष्ट्यादि कार्य में निरत ब्रह्मा में राजसी माया है। प्राणिपीड़ाकर होने से दैत्यों में तामसी माया रहती है—

"प्रोक्ता च सात्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी।"

यह वैष्णवी माया अपने अज्ञान से ही प्रसूत होने के कारण पुत्री के समान है। यह ब्रह्मज्ञान के बिना और किसी भी साधन से निवृत्त नहीं हो सकती। कर्मयोग,जपादि से तत्त्व-ज्ञानोत्पत्ति की योग्यता होती है। अविद्यानिवृत्ति तो तत्त्वबोध से ही होती है—

"अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा",
"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

भगवत्प्रपत्ति अर्थात् भगवत्शरणागति से ही इस माया का तरण होता है।

ब्रह्मसुता प्रणवविद्या देवकी हुई। निगम अर्थात् समष्टि वेद वसुदेव के रूप में प्रकट हुए और 'तत्त्वं' पद-लक्ष्यार्थ का एकीभावस्वरूप वेदार्थ श्रीकृष्ण एवं बलराम के एकीभावरूप मे प्रकट हुआ। सम्पूर्ण वेद सर्वदा जिसका स्तवन करते हैं, वे ही परमात्मा महीतल में अवतीर्ण होकर वृन्दावन में देवतास्वरूप गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हैं। नानाप्रकार की श्रुतियाँ एवं वनवासी मुनि आदि भी गायों एव गोपियों के रूप मे प्रकट हुए। भगवत्स्पर्श के लिए प्राणिमात्र लालायित होते हैं, इसीलिए ब्रह्मा भी मनोहर यष्टि होकर, भगवान् रुद्र सतस्वरानुवादी वेणु होकर, इन्द्र गवयशृङ्ग होकर भगवान् के श्रीहस्त में सुशोभित हुए, अघ (पाप) ही अघासुरादि असुरों के रूप में प्रकट हुए —

"गोप्यो गावो ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः।
वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सखेऽघासुरः॥"

अजगररूपी अघ वत्स-वत्सपादि सब को निगल गया, उसके उदर में उनके व्याकुल होते ही भगवत्स्मृति से अघासुर का नाश हुआ और फिर उनका रक्षण हुआ, अमृतवर्षिणी भगवत्कृपादृष्टि से मृतप्राय वत्सादिकों का पुनर्जीवन हुआ। वैकुण्ठ गोकुल एवं वृन्दावनरूप में अवतीर्ण हुआ, तपस्वी लोग विविध द्रुमों (वृक्षों) के रूप में प्रकट हुए, लोभ, क्रोधादि अनेक दैत्यों के रूप में प्रकट हुए। उन्हीं लोभादि के कारण प्रभूत कलिकाल से जीव तिरस्कृत होकर दुःख पाता है। श्रीभगवान् अपनी माया से विग्रहधारण करके

गोपरूपधारी होते हैं। भगवान् का अध्यवसाय दुर्ज्ञेय है, उनकी माया से जगत् मोहित रहता है—

> "गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः।
> लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालतिरस्कृतः॥
> गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः।
> दुर्बोध कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्॥"

भगवान् की अघटितघटनापटीयसी माया देवताओं से भी दुर्ज्ञेय है। बड़े बड़े देवताओं के भी बल एवं ज्ञान को वह क्षण में हरण कर लेती है। उसी के योग से निर्विशेष ब्रह्म गोपाल बने, रुद्र उनकी प्रिय वंशी बने, आदिशेष बलराम हुए, सोलह सहस्त्र एक सौ आठ उपासनाकाण्ड की मन्त्रोपनिषदादि श्रुतियां भगवान् की परिनयों के रूप में प्रकट हुईं। द्वेष चाणूर, मत्सर मुष्टिक, दर्प कुवलयापीड़ गजेन्द्र, गर्व बक के रूप में प्रकट हुआ, दया माता रोहिणी के रूप में प्रकट हुई, पृथ्वी सत्यमामा हुई, कलि कंस के रूप में प्रकट हुआ, राम सुदामा, सत्य अक्रूर, दम उद्धव के रूप में प्रकट हुआ। दुग्धसिन्धु में समुत्पन्न शङ्ख लक्ष्मीसोदर होने से लक्ष्मीरूप है और वह विष्णुस्वरूप है। दुग्धसिन्धु में उत्पन्न मेघघोष ही शङ्खघोष है। गोपियों के गृहों में दुग्ध दधि के भाण्डों को फोड़ने से उद्भूत दधि दुग्धप्रवाह से ही क्षीरसागर, दधिसागर उद्भुत हुए। भगवान् उन्हीं अपूर्व दुग्ध दधि-समुद्रों में बालक होकर प्रतिगृह में खेलते थे—

> "अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्याः स्त्रियस्तथा।
> ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥

द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः ।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः ।
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै ॥
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ।
शमो मित्रः सुदामा च सत्योऽक्रूरोद्धवो दमः ॥
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ।
दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः ॥
दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ।
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ ॥"

धर्मघ्न दैत्यों के नाश एवं साधुओं के परित्राणार्थ ही भगवान् का प्रादुर्भाव होता है। ईश्वरनिर्मित ब्रह्मस्वरूप जगत् ही भगवान् का चक्र है। भगवान् के आविर्भाव-काल का मुखर प्राणवायु ही धर्मसंज्ञित चमर है, अग्नि जिसका आभास है, वह महेश्वर ही भगवान् का खड्ग है—

"यत्सृष्टमीश्वरेणासीत् चक्रं ब्रह्मस्वरूपधृक् ।
जयन्तीसम्भवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः ।
यस्यासौ ज्वलनाभासो खड्गरूपो महेश्वरः ॥"

देवपिता कश्यप भगवान् से सम्बद्ध होने के लिए उलूखलरूप में प्रकट हुए। देवमाता अदिति रज्जुरूप में प्रकट हुई। उसी से नन्दरानी ने कृष्ण को बाँधा था। समस्त प्राणियों के मूर्द्धा में सहस्रारचक्र है। उसमें निर्विकल्परूपिणी सिद्धि एवं तुरीयसाक्षात्काररूपी बिन्दु भी शङ्ख-चक्र-रूप में मान्य है। एक भगवान् ही सर्वरूप से स्थित हैं, ऐसा जानकर योगी लोग भगवद्भावना से सब को नमन करते हैं—

"ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम्।
प्रणमेद्दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥"

सर्वशत्रु निबर्हिणी साक्षात् कालिका भगवान् की गदा है। उनकी माया ही शार्ङ्ग धनुष है। माया, अविद्या, षट्ऋतु काल भगवान् का भोजन है, क्योंकि अविद्या तत्कार्य का ग्रास करनेवाले भगवान् ही हैं—

"कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा।
चक्रं शङ्खश्च संसिद्धि बिन्दुञ्च सर्वमूर्धनि॥
गदा च कालिका साक्षात् सर्वशत्रु निबर्हिणी।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः॥"

अनन्तकोटिब्रह्माण्डबीज अविद्याण्ड भगवान् के हाथ में कमल है। घटीयन्त्रस्थ घटमालिका जाल के समान अनन्तकोटिब्रह्माण्ड भगवान् के हाथ हैं। गरुड़ ही भाण्डीरवट, नारदमुनि सुदामा के रूप में प्रकट हुए हैं, नारद शमरूप है, अतः पूर्वोक्ति से विरोध नहीं है। भगवद्भक्ति वृन्दा है, भगवद्भिन्न कोई वस्तु नहीं है ऐसे ज्ञान का प्रकाशन करनेवाली बुद्धि ही भगवान् की क्रिया है। इस तरह शुद्ध भगवत्तत्त्व ही साङ्गोपाङ्ग मूर्ति में भक्तानुग्रहार्थ अवतीर्ण हुए हैं—

"अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः।
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी।"

(सिद्धान्त ५।१९–२०)

———

रामराज्य

भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के शासनकाल में सभी वृक्ष सुन्दर पत्र, पुष्प, फल, पल्लवों से सुशोभित रहते थे। पृथ्वी पर अनन्त धन-धान्य भरपूर रहता था। प्राणियों के जीवन पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परिवारों से सनाथ थे। सभी की विरहक्लान्ति मनोऽनुकूल कान्तसंयोग जन्य सौख्यों से उपशीण थी। श्रीरघुनाथजी के पादपद्म की शुश्रूषा प्राणिमात्र को रहती थी। लोगों के वाग्व्यवहारों में परनिन्दा की रुचि का प्रसङ्ग कभी आता ही न था। चोरों की भी पाप में मानसी प्रवृत्ति का होना कठिन हो गया था। सीतापति श्रीरामचन्द्र के अमृतमय मुखचन्द्र के दर्शन के लिए सभी के लोचन चकोर के समान आसक्त रहते थे। काव्यरस से नरनारीवृन्द परिपूरित रहता था। इन्हीं कारणों से कुटुम्बियों में रोगों का आक्रमण भी नहीं होता था। अकालमरण होता ही नहीं था। शलभ, मूषक, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि भय का तो लेश भी न था। परस्पर वैर न होने से वैरभय का अभाव ही था। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का वह राज्य सदा ही निष्कण्टक और निःउपद्रव रहा। समस्त राष्ट्र ऋषियों, मुनियों तथा धर्मनिष्ठ हृष्ट-पुष्ट, रम्य मणिरत्न विभूषित सत्पुरुषों से भूषित था। व्रीहि, यव आदि सस्यों से परिपूरित क्षेत्रों से युक्त तथा संभूत स्वस्थ मनुष्यों और गोधनों से सुशोभित अयोध्या का साम्राज्य अद्वितीय ही था। नाना देवमन्दिरों तथा समृद्धियों से ग्राम शोभा पा रहे थे। शोभन पुष्पों से युक्त बड़े सुन्दर कृत्रिम उद्यानों में

मधुर स्वादवाले फलों से युक्त नानाप्रकार के वृक्ष थे। कमल-कमलिनी तथा कुमुद-कुमुदिनियों से युक्त सरोवर निराली ही शोभा बढ़ाते थे। नदियाँ सदम्मा (निर्मल जलवाली) होती थीं। जनता में दम्भ का स्पर्श न था।

विभ्रम शब्द के प्रयोग का स्थान युवतियों का कटाक्ष ही था, विद्वानों में विभ्रम का लेश न था। कुटिलगामिनी केवल नदियाँ ही थीं, प्रजा अत्यन्त ऋजुमार्गगामिनी थी। तम का व्यवहार कृष्णपक्ष की रात्रियों के सिवा कहीं भी पुरुषों में न था। रजशब्द भी रजस्वला के रज में ही प्रयुक्त होता था, मनुष्यों में रजोगुण का अभाव ही था। दण्ड भी आतपत्रों में या यतियों के हाथ में ही देखा जाता था, कोई भी प्राणी ऐसा कार्य ही नहीं करते थे, जिनके लिए दण्ड की आवश्यकता पड़े। जड़ की वार्ता घनीभूत जल में ही थी। दौर्बल्य स्त्रियों के कटिभाग में ही था। कठोरहृदय (स्तनवाली) सीमन्तिनियाँ ही थीं। कोई भी पुरुष कठोरहृदय (निर्दय) नहीं था। औषधि के योग में ही कुष्ठ का योग था। मूर्तियों के हाथ में ही शूल था, किन्हीं जन्तुओं के यहाँ किसी प्रकार के शूल की चर्चा नहीं थी। कम्पन केवल प्रेमादि सात्त्विक भावों में था, किसी प्रकार के भय से किसी को कम्पन कभी नहीं होता था।

ज्वर केवल काम से ही होता था। दरिद्रता केवल पाप की ही थी। दुर्लभता कापुरुषों की ही थी। प्रमत्त हस्ती ही थे, पुरुषों में प्रमाद का नाम भी न था। दान (मद) च्यवन हस्तियों में ही होता था, पुरुष कभी दानहीन नहीं होते थे। तीक्ष्णता कण्टकों में ही थी, पुरुषों में तीक्ष्णता का स्पर्श भी न था। गुणों का विश्लेष सिवा चापों के मनुष्यों

में कहीं भी न था। दृढ़बन्धन शब्द पुस्तकवेष्टन में ही था, प्राणियों के बन्धन की कोई चर्चा न थी। खलों में ही स्नेहत्याग था न कि स्वजनों में।

ऐसे सुन्दर राज्य में आसीन होकर श्रीरामचन्द्र प्रजाओं का पालन करते थे। उनके गुप्तचर नियम से समस्त राष्ट्र की भावनाएँ जानने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एक दिन गुप्तचर सुनते हैं कि कोई एक मृगलोचनी युवती अत्यन्त हर्ष से अपने स्तनन्धय पुत्र से कहती है कि 'पुत्र! अतिमनोहर मेरे स्तन्य (दुग्ध) को खूब पान कर लो। अब यह पयोधर-पान दुर्लभ हो जायगा, क्योंकि अयोध्यानाथ नीलाम्बुजश्यामल रामचन्द्र की पुरी में जन्म ग्रहण करके फिर प्राणियों का जन्म नहीं होता। अतः जो जन्महीन होगा, वह पयोधरपान कैसे करेगा? और जो प्राणी श्रीरामचन्द्र का स्मरण और ध्यान करेंगे, उनके लिए भी यह पयःपान दुर्लभ ही होगा।'

ऐसे ही किसी दूसरे मनोहर गृह के पास भी गुप्तचर लोग सुनते हैं कि एक अत्यन्त सुन्दरी बाला स्नेहपूर्वक अपने पति से दिये हुए ताम्बूल का चर्वण करती हुई, अनेकविध भूषण, वसन से सुशोभित वह युवती नयनों को नचाकर अपने परममनोहर पति से कहती है—'देव! आप मुझे ऐसे प्रिय लगते हैं, जैसे रामचन्द्र। अत्यन्त सुन्दर और कोमल अङ्ग तथा अपाङ्ग और विशाल वक्षःस्थल भूषणों से युक्त बाहुसहित श्रीरामूर्ति की तरह मुझे प्रतीत होते हैं।" इस प्रकार कान्ता के वचनामृत पानकर काम के समान अतिसुन्दर नायक ने कहा—'प्रियतमे! यह तुम्हारा कथन साध्वी पतिव्रताओं के अनुरूप है। वस्तुतः कहाँ मैं और कहाँ

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान् रामचन्द्र ! कहाँ मैं साधारण जन्तु और कहाँ ब्रह्मादिदेववन्दित भगवान् राम ! कहाँ खद्योत और कहाँ पूर्णचन्द्र ! कहाँ मृगेन्द्र और कहाँ शशक ! कहाँ जाह्नवीजल और कहाँ गलियों का जल ! जिन वेदान्तवेद्य श्रीराम के पद-पङ्कज-रज से शिलाभूता अहिल्या भी तर गयी।" यह सुनते ही प्रेमोद्रेक में नायिका भ्रुकुटी नचाकर अपने सर्वस्व से लिपट गयी।

ऐसे ही कहीं दूसरे स्थल में कोई कान्ता पुष्पमयी शय्या का निर्माण करके तथा चन्दन-ताम्बूलादि सम्भोग-सामग्रियों को रख करके पति से कहती है कि 'प्रियतम ! श्रीरामकृपा से प्राप्त इन अनेकविध भोगों का उपभोग करें। मुग्धा कामिनी और तापहारक चन्दन तथा पुष्परचित सुन्दर पर्यङ्क यह सभी श्रीरामकृपा का फल है। जो प्राणी भगवान् रामचन्द्र से पराङ्मुख हैं, वे भूषण-वस्त्रादि सर्व सम्भोगसामग्रियों से रहित रहकर अपना उदरपोषण करने में भी असमर्थ होते हैं।' कोई कान्ता अपने कान्त के साथ पर्यङ्क पर वीणावादन करती हुई श्रीराम की सत्कीर्ति का गायन करती है और कहती है कि 'स्वामिन् ! हम सब धन्यतम हैं, जो कि हमारी पुरी के पति श्रीरामचन्द्र अपनी प्रजा का पालन पुत्र की भाँति करते हैं, जिन्होंने अतिदुःसाध्य समुद्र को बाँध दिया और रावण को मारकर श्रीजानकी को ले आये'। अपनी प्रियतमा के ऐसे वचनामृत को श्रवण करके पति ने हँसकर कहा— "मुग्धे ! रावणवध और समुद्रनिग्रहादि श्रीरामचन्द्र के लिए कोई दुर्गम नहीं हैं। यह तो ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना से अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परमात्मा ही नररूप में अवतीर्ण हैं और अपनी लीलाशक्ति से

ही समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन तथा संहार करते हैं। हम सब धन्य हैं जो श्रीराम के मुखपङ्कज का दर्शन करते हैं"।

ऐसे ही किसी अन्य गृह में कोई कान्ता अपने कान्त के साथ द्यूत क्रीड़ा करती हुई कहती है कि "प्रियतम ! मैंने तो सब जीत लिया, अब क्या करोगे ?" ऐसे परिहासपूर्ण वाक्य को श्रवण करके कान्त ने कहा–"राम को स्मरण करते हुए मेरा पराजय कभी भी नहीं हो सकता। अभी मैं मनोहर अपने प्रियतम राम का स्मरण करके तुम्हें जीत लेता हूँ"। ऐसा करते हुए पासा फेंककर प्रियतमा को जीत करके कहता है–"देखो, राम का स्मरण करनेवाले का क्या कभी पराजय हो सकता है !"

राजधर्म की ओर ध्यान देने से विदित होता है कि निखिलब्रह्माण्ड-पालक विष्णु ही लोकपाल, महेन्द्र, वरुण, कुबेर, यम प्रभृतियों के सहित अंश से पृथ्वीपति के रूप में प्रकट होते हैं और वही राजपरम्परा में प्रकट होकर प्रजारक्षण करते हैं। वेन की उद्दण्डता से असन्तुष्ट होकर महर्षियों ने वाग्दण्ड से उसे दग्ध कर डाला। बाद में जब अराजकता फैल गयी, तब पुनः महर्षियों ने उसी वेन के अङ्ग का मन्थन करके उसी में से पृथु को प्रकट किया था। क्या उस समय और कोई राजा बनाने योग्य न था ? परन्तु वहाँ तो उस परम्परा का ही प्रश्न था। यह आज भी देखा ही जाता है। जो कुलीन राजा हैं, उनकी और स्थिति होती है और जो ऐसे नहीं हैं, उनकी स्थिति और ही होती है।

वास्तव में ऐश्वर्य के प्रलोभन में प्राचीन राजाओं की शासन में प्रवृत्ति नहीं होती थी। अतएव शासनभार अजितेन्द्रिय के लिए दुर्वह समझा जाता था। कितनी ही बार राजर्षिगण यह समझकर साम्राज्य ब्राह्मणों के

चरणों में समर्पण कर देते थे कि प्रजा को सम्पत्ति का दुरुपयोग हम-लोगों के सम्भोग में हो जाता है। जैसे सूर्य अपनी तिग्मरश्मियों से पृथ्वी से बल खींचते हैं, परन्तु उसका लेश भी अपने लिए नहीं रखते। समय पर प्रजा को प्रदान करने के लिए ही वह समस्त व्यापार होता है—वैसे ही नरपति अपने सम्भोग के लिए प्रजा से कर-ग्रहण नहीं करता, अपितु प्रजा की ही सेवा करने के लिए यह सब कुछ होता है। ये ब्राह्मणगण परम वीतराग हैं, वन्य फल-मूलभक्षण, वल्कल वसन धारण करते हैं। इसी-लिए ये सतत प्रजा के कल्याण की बात सोचते रहते हैं। अतः यदि ये पृथ्वी का पालन करें, तो प्रजा को बहुत लाभ और सन्तोष होगा। परन्तु ब्राह्मणगण भी यही समझते हैं कि हम तपस्या द्वारा कहीं अधिक प्रजा का पालन कर सकते हैं। (मा० सन्मार्ग ३४)। ०

—:०:—

वैदिक धर्म

सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा अनादि जीवों के कर्मों के अनुसार सृष्टि रचकर उनके कल्याणार्थ अनादि वेदों को व्यक्त करते हैं। कहना न होगा कि जैसे जागने और सोने की परम्परा अनादि है, वैसे ही सृष्टि और प्रलय की परम्परा भी अनादि ही है। जैसे जागने के उपरान्त प्राणियों की चेष्टाएँ उन चेष्टाओं से सम्बद्ध होती हैं, जो सोने के पहले थीं, वैसे ही सृष्टि के बाद की समस्त जीवचेष्टाएँ प्रलय से प्रथम की चेष्टाओं से असम्बद्ध नहीं रहतीं। किसी भी राजा या नियन्ता को प्रजाओं या नियम्यों पर शासन करने के लिए एक शासनपद्धति अपेक्षित होती है। कालपरिच्छिन्न सादि राजा की प्रजाशासन (निग्रहानुग्रह)-पद्धति कालपरिच्छिन्न ही होती है। परन्तु जहाँ सनातन, अनादि परमेश्वर को अनादि जीवरूप प्रजा पर शासन करना है, वहाँ तो शासनपद्धति भी सनातन एवं अनादि ही होनी चाहिए। अल्पज्ञ राजा को समस्त देश, काल, परिस्थितियों का बोध नहीं रहता, अतः जैसे जैसे ज्ञान होता जाता है, वैसे वैसे उसके नियमों में परिवर्तन होता है। परन्तु, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-सम्पन्न भगवान् को तो समस्त देश, काल, परिस्थितियों का विज्ञान रहता है, अतः उनकी शासन या निग्रहानुग्रह-पद्धति अभ्रान्त और अपरिवर्त-नीय होनी ही चाहिए। वही ईश्वरीय शासनपद्धति हमारे वेद हैं। उनमें भिन्न-भिन्न देश, काल, परिस्थितियों का स्वयं ध्यान रखा गया है। उसी की सीमा के भीतर ही महर्षियों की भिन्न-भिन्न स्मृतियाँ निर्मित

हुई हैं। वेद ईश्वर के समान ही अपौरुषेय और अनादि हैं। जैसे प्राणी का प्राण के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है, वैसे ही परमेश्वर का उसके निःश्वासभूत वेद के साथ सम्बन्ध है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता का भी वेदों के निर्माण में नहीं, किन्तु वेदार्थ विचार में ही उपयोग होता है। वेद निःश्वास की तरह प्रयत्न-निरपेक्ष और अकृत्रिम हैं। वे पौरुषेय अर्थात् स्वतन्त्र पुरुषबुद्धिप्रसूत नहीं हैं। अतएव पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से दूषित नहीं, अतएव अप्रामाण्य-शङ्का-कलङ्क का उनमें स्पर्श भी नहीं है। इसीलिए उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों में भले ही अनेकों लौकिक, पारलौकिक आख्यानों तथा विविध आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वों का वर्णन हो, फिर भी उनका अवान्तर तात्पर्य कर्म तथा उपासनाओं में और महातात्पर्य सर्वाधिष्ठान शुद्ध परब्रह्म परमेश्वर में ही है। आनुषङ्गिकरूप से नैतिक, आर्थिक, विविध लौकिक-पारलौकिक कर्मों, इतिहासों, आख्यानों एवं आविष्कारों का अवगम भी उनसे अवश्य ही होता है। परन्तु वही परमार्थतः वेदार्थ है यह मनु, वशिष्ठ, व्यास, जैमिनि, कात्यायन, शबर, शङ्कर, कुमारिल, मण्डन, वाचस्पति, सायणादि की वैदिकी दृष्टि से अत्यन्त विरुद्ध है। वस्तुतः प्राणियों के जीवन के अवान्तर उद्देश्य और महोद्देश्य की पूर्ति में जो जो भी उपाय, कर्म, ज्ञानादि आवश्यक हैं, उन सभी का प्रतिपादन वेदों में मिल सकता है। विशिष्ट प्राणी को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्तिस्वरूप मोक्ष या भगवत्प्राप्ति की अपेक्षा होती है। साधारण प्राणी

को विविध प्रकार के वैषयिक सुख और उसके साधनों की अपेक्षा होती है। इसी को धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार पुरुषार्थ कह सकते हैं। लौकिक वैषयिक सुखभोग और उसकी विभिन्न सामग्रियाँ अर्थ और काम में आ जाती हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान और उसकी चमत्कृतियाँ भी अर्थ और काम के भीतर आ जाती हैं। इन्हीं के लिए नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, रसायनशास्त्र, गान्धर्वशास्त्र, सङ्गीत, कामशास्त्र आदि अनेक शास्त्र आवश्यक होते हैं। इन सब का उद्गम वेदों से ही है। लौकिक विविध विचित्र आनन्दों एवं आनन्द-सामग्रियों में भी धर्म अपेक्षित होता है। इसके अतिरिक्त धर्म के ही प्रभाव से विविध लौकिक उपाय और उनकी सफलता प्राप्त होती है। परन्तु पारलौकिक सुख और तत्साधनीभूत धर्म, मोक्ष और तदुपयुक्त निष्काम कर्म, उपासनाएँ, तत्त्वज्ञान आदि का, जिनमें कि विशेष रूप से वेदों का तात्पर्य है, अवगम तो वेदों से ही होता है। अतः सनातन परमेश्वर के सनातन, अंशभूत जीवों को सनातन परमपदप्राप्ति के लिए वेद प्रतिपादित सनातन मार्ग ही सनातन 'वैदिक धर्म' है।

सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान् का ही अंशभूत चेतन, अमल, सहज सुखस्वरूप जीवात्मा अनादि काल से मल, विक्षेप और आवरणरूप दोषों से संसृष्ट होकर अनेकानर्थपरिप्लुत विविध योनियों में परिभ्रमण करता है। जन्मजन्मान्तरों के सुकृतसञ्चय से अनुकूल होकर भगवान् जब मानवजन्म प्रदान करते हैं, तभी उसे आत्मोद्धार की सुविधा होती है। उसमें वैदिकधर्म के अनुकूल वातावरण, देश, काल, सत्पुरुष-समागम, सच्छास्त्र-सम्बन्ध अधिक सहायक होते हैं। वेदों अ-

कहना है कि मातृमान, पितृमान, आचार्य्यवान् पुरुष ही वैदिक धर्मरहस्य को जान सकता है—"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।"

अर्थात् प्रशस्त आचार-विचारवाली माता का सद्भावना, आचरण एवं उपदेशों से शिक्षित तथा पिता के आचारों एवं उपदेशों से विनीत, आचार्य्यवान् पुरुष ही तत्त्व को जान सकता है। इन्हीं सब बातों का ध्यान रखकर वैदिक लोग गर्भाधान से ही सन्तान का संस्कार प्रारम्भ करते हैं। सद्धर्म कर्मपरिनिष्ठित माता-पिता द्वारा सद्भावना के साथ विधिवत् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, चौलकर्म, मौञ्जी-बन्धनादि संस्कारों से सन्तान के शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण वैसे ही पवित्र होते हैं, जैसे खान से उत्पन्न मणि संस्कार द्वारा निर्मल होकर दीप्त होती है। उसमें भी अधिक प्रभाव माता-पिता के आचरणों और भावनाओं का पड़ता है। इस तरह प्रशस्त माता-पिता की शिक्षा से शिक्षित होकर पुनः प्रशस्त आचार्य्य से उपनीत होकर गुरु और अग्नि की शुश्रूषा, भूमि-शयन, ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन करता हुआ बालक शौच, आचार आदि शिक्षण-पूर्वक चारों पुरुषार्थों के परमकारण दिव्य वेदादि सच्छास्त्रों के जानने में प्रवृत्त होता है। पवित्र आचार-विचारसम्पन्न सहज कोमल हृदय में दिव्य, अभ्रान्त ज्ञान के सुस्थिर संस्कार होने पर सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति में सुविधा मिलती है। सद्बुद्धि, सदिच्छा एवं सत्प्रयत्नों से प्राणी दुर्गम से दुर्गम कार्यों को कर सकता है। कहा जाता है कि प्राणी अपने भाग्य का विधाता स्वयं हो सकता है। जैसे पुरुषों का सहयोग, जैसे ग्रन्थों का सेवन किया जाता है, श्रद्धासम्पन्न पिघली हुई लाख की तरह कोमल चित्त में वैसी ही ज्ञानभावना बनती है। जैसी ज्ञानभावना होती है,

वैसी ही प्राणी की इच्छा होती है। इच्छा के अनुसार उत्कट उत्कण्ठापूर्वक प्रयत्न से वैसा ही हो सकता है। परन्तु इसके लिए श्रद्धेय उत्तम पुरुषों के समागम, सेवन, सदिच्छा और सत्प्रयत्न की अपेक्षा है। उससे ही राष्ट्र में सौमनस्य, सङ्घटन आदि सब कुछ सम्पन्न होता है और समाज, राष्ट्र एवं विश्व में सर्वत्र अभ्युदय और शांति स्थापित होती है।

विधिपूर्वक साङ्ग वेदादि शास्त्रों का ग्रहण, धारण, अर्थज्ञान सम्पादन करने के उपरान्त प्राणी को सर्वबन्धनविनिर्मुक्त होकर सर्वान्तरात्मा भगवान के मङ्गलमय श्रीअङ्क में समासीन होने के लिए अपने आप को शुद्ध करना चाहिए। परन्तु इसमें मल, विक्षेप और आवरण प्रतिबन्धक हैं। कर्मकाण्ड से मल की, उपासनाकाण्ड से विक्षेप की और ज्ञानकाण्ड से आवरण की निवृत्ति होती है। इसलिए प्रथम शास्त्रानुसार विवाह करके अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, ज्योतिष्टोम आदि कर्मकलापों द्वारा पितृदेवादिरूप में अनेकधा विराजमान भगवान् की आराधना करके दिव्य पुण्य या अदृष्टों से अपने पापों का प्रक्षालन करना चाहिए। इन कर्मों का कामनासहित अनुष्ठान करने से पशु, पुत्र, धन, ग्राम, स्वराज्य, स्वर्ग आदि फलों की प्राप्ति होती है। निष्काम भाव से, भगवच्चरणपङ्कजसमर्पणबुद्धि से, उन्हीं कर्मों का अनुष्ठान करने से अन्तःशुद्धि और ज्ञानादिक्रमेण भगवत्प्राप्तिरूप दिव्य महाफल प्राप्त होता है। फिर भी जैसे गुरुच-पान का रोगनिवृत्ति ही मुख्य फल है, वैसे ही अन्तःकरणशुद्धि, ज्ञानक्रमेण भगवत्प्राप्ति ही कर्मों का मुख्य फल है। इतर फल तो वैसे ही केवल रोचनार्थ हैं, जैसे कड़ुआ गुरुच पान कराने के लिए कल्याणमयी, करुणामयी पुत्रवत्सला जननी अपने

शिशु को लड्डू का प्रलोभन देती है और पी लेने के बाद मोदक दे भी देती है। यह अदीर्घदर्शी बालक गुरुचपान का फल लड्डू समझता है, परन्तु माता तो रोगनिवृत्ति को ही मुख्य समझती है। सर्वद्वन्द्वविवर्जित स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान् का उपलम्भ (प्राप्ति) देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार के अत्यन्त प्रशान्त, निर्मल, निर्वृत्तिक होने पर ही होता है। परन्तु प्रथम उनकी निर्वृत्तिकता होनी सहसा असम्भव है, अतः पहले सात्विक, सरल प्रवृत्तियों का अवलम्बन करके राजसी, तामसी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों का रोकना अपेक्षित होता है। अनन्तर अन्तरङ्ग-अन्तरङ्ग सात्विकी प्रवृत्तियों से बहिरङ्ग बहिरङ्ग सात्विकी प्रवृत्तियों का भी निरोध किया जाता है। अन्त में सर्वान्तरङ्ग मन, बुद्धि की सात्विकी प्रवृत्ति "विषं विषान्तरं जरयति, स्वयमपि जीर्य्यति" (एक विष दूसरे विष के प्रभाव को शान्तकर स्वयं शान्त हो जाता है) इत्यादि न्याय से स्वपरविरोधिनी अन्तिम चरमावृत्ति से शान्त होकर पूर्ण निर्वृत्तिकता होने पर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, स्वप्रकाश परमात्मस्वरूप को अवगति और तदात्मना अवस्थिति होती है। यही श्रौतस्मार्त्तशृङ्खलानिबद्ध देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारादि की चेष्टाओं से अर्थात् श्रौतस्मार्त्त काम, कर्मों एवं ज्ञानों से, स्वाभाविक काम-कर्म ज्ञानरूप मृत्यु का अतितरण है—

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा।"

जिस समय प्राणी की समस्त चेष्टाएँ शास्त्र परतन्त्र होने लगती हैं, उस समय उच्छृङ्खल पाशविकी चेष्टाओं का लोप होता ही है। वैदिक सिद्धान्त में स्वप्रकाश परमानन्द भगवान् की प्राप्ति मुख्य उद्देश्य है। उसकी पूर्ति के लिए सामाजिक, नैतिक, आर्थिक विविध कर्मों की

अपेक्षा होती है। यदि भगवान् का स्मरण करते हुए भगवदाराधनार्थ भगवत्समर्पणबुद्धि से लौकिक, पारलौकिक सभी कर्मों का अनुष्ठान किया जायगा, तो अन्तःशुद्धिक्रमेण उपासना का भाव बढ़ेगा और फिर कर्माङ्ग उपासनाओं में या उपासनाप्रधान कर्मों में प्रवृत्ति होगी। उपासना में ही मूर्तिपूजा, सगुण, साकार राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति, सूर्य आदि पञ्चदेवताओं की आराधनाएं अन्तर्भूत हो जाती हैं। इन उपासनाओं से अन्तःकरण की निर्मलता होती है और विक्षेप, चञ्चलता निवृत्त होती है। भगवान् के विशेषानुग्रह से तत्त्वसाक्षात्कार एवं आवरणनिवृत्ति में बड़ी ही सुविधा होती है। भगवान् के परमाकर्षक, मधुर, मनोहर, मङ्गलमय स्वरूप में सहज ही मन की एकाग्रता हो जाती है। इसके अतिरिक्त सगुण निराकार एवं निर्गुण-निराकार की भी उपासनाएँ होती हैं। उनसे तत्त्वसाक्षात्कार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इस तरह कर्म एवं उपासना से मल और विक्षेप मिटा देने के अनन्तर आवरण मिटाने के लिए ज्ञान की अपेक्षा होती है। नित्यानित्य-वस्तुविवेकी, शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धावान्, समाहित एवं तीव्रमुमुक्षासम्पन्न होकर वेदान्तों का श्रवण करना चाहिए। इसके अनन्तर तर्कशास्त्र की सहायता से मनन और योगशास्त्र की सहायता से निदिध्यासन करके तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा आवरण-भङ्ग करना चाहिए। बस फिर तो वह प्रत्यक्चैतन्याभिन्न शुद्ध ब्रह्मात्मभाव में ही स्थित होता है और सब का अन्तरात्मा होकर सब को अपने ही में देखता है। उसका व्यष्टिभाव—परिच्छिन्नता का अभिमान मिट जाता है। वह सब का और सब उसके हो जाते हैं। ज्ञानियों का 'सर्वभूतहिते रत' होना स्वाभाविक लक्षण है।

जगत् में एक दूसरे के साथ अनिवार्य सम्बन्ध एवं उपकार्य-उपकारकभाव है। यह कोई भी नहीं कह सकता कि हम स्वतन्त्र हैं, हमें किसी की अपेक्षा नहीं है। भगवान् के आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि, अन्न के बिना किसी का भी काम नहीं चल सकता। इस तरह प्राणी पर अनेकों के उपकार का ऋण रहता है। समस्त विश्व के प्रति जैसे परमेश्वर की कारणता है, वैसे ही शुभाशुभ कर्मों एवं अदृष्टों द्वारा जीवों की भी कारणता है। जिन वस्तुओं या जिन देहियों से जिनको, जितने अंशों में सुख पहुँचता है, उतने अंशों में वे उनके शुभ कर्मों के फल हैं। जितने अंशों में, जिनसे, जिनको दुःख पहुँचता है, उतने अंशों में वे उनके अशुभ कर्मों के फल हैं। एक ही वस्तु या व्यक्ति से बहुतों को सुख और बहुतों को दुःख पहुँचता है और कभी देशकाल भेद से एक व्यक्ति को भी सुख-दुःख पहुँचता है। इस तरह अनेकों प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों से एक ही वस्तु का निर्माण होता है। अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सर्वत्र सब का सम्बन्ध है, अतएव श्रौत स्मार्त्त यज्ञों द्वारा देवताओं का, वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों का, श्राद्ध, तर्पण, सन्तानोत्पादनादि द्वारा पितरों का तर्पण किया जाता है। बलि-वैश्वदेव, अतिथिसत्कार द्वारा सर्वभूतों को सन्तुष्ट किया जाता है। इस तरह पारस्परिक सद्भावना और सौहार्द उत्पन्न होकर सामाजिक, राष्ट्रिय तथा अन्ताराष्ट्रिय भावों का सङ्घटन और सामञ्जस्य होता है। सर्व विश्व का धारक-पोषक होने से वैदिक-धर्म में 'धारणाद्धर्मः' यह परिभाषा चरितार्थ होती है। इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें लौकिक, पारलौकिक, आर्थिक, नैतिक सभी कर्म आ जाते हैं। सन्ध्यावन्दन, तर्पण, श्राद्ध, बलि वैश्वदेव, अतिथि-

-सत्कार आदि कर्मों से भावशुद्धि, शक्ति और तेज की वृद्धि होती है। जैसे किसी भी यन्त्र के सञ्चालन में उसके मार्जन, प्रक्षालन आदि की अपेक्षा होती है, क्योंकि वैसा न होने से उसके नष्ट या विकृत हो जाने की सम्भावना होती है, वैसे ही विविध व्यापारों से श्रान्त एवं मलिन देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार का मार्जन एवं प्रक्षालन करके उन्हें दिव्य शक्ति और तेज से सम्पन्न करके लौकिक, पारलौकिक कार्य्यकरणक्षम बना देना, यह भी कार्य इन्हीं कर्मों का है। आत्मयाजी समस्त कर्मों का अनुष्ठान आत्मसंस्कारार्थ ही करता है। शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, तप, ईश्वर प्रणिधान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन यम नियमों की बड़ी ही महत्ता और आवश्यकता है।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

इस भगवदुक्ति के अनुसार लौकिक, वैदिक समस्त कर्मों का भगव-दर्पणबुद्धि से अनुष्ठान करने पर व्यवहारों और भावों की शुद्धि होती है। जब सभी कर्मों को भगवान् में अर्पण करना है, तब उनकी शुद्धि पर अधिक ध्यान रहेगा। भगवान् को अपवित्र कर्म न समर्पित हों इसलिए सदा शास्त्रपरिशोधित ही कर्मों का अनुष्ठान किया जायगा। लौकिक, पारलौकिक, नैतिक, धार्मिक, आर्थिक सभी कर्मों में धर्म-अधर्म का समावेश रहता है। नीति और धर्म का क्षेत्र पृथक्-पृथक् न होने से धर्म की परिभाषा ही हमारे यहाँ यह है कि वेदादिशास्त्र के अनुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार की चेष्टाएँ अर्थात् हलचलें धर्म और उसके विपरीत चेष्टाएँ अधर्म हैं—

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः",

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥"

धर्म की रक्षा के लिए यथावसर सिद्ध ज्ञानी और उनके ध्येय, ज्ञेय परमाराध्य परमतत्व भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं।

सामान्यरूप से कर्मयोग (प्रवृत्तिमार्ग) और सांख्ययोग (निवृत्तिमार्ग) में ही समस्त वेदों का तात्पर्य है—

"द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः॥"

कर्मयोग में सभी धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि कर्म आ जाते हैं। इनमें ही पूर्वमीमांसा, कर्मकाण्डपरक वेद, धर्मशास्त्र आदि का उपयोग हो जाता है। सांख्ययोग में कापिल, पातञ्जल, वैशेषिक दर्शनों का उपयोग हो जाता है। इतिहास, पुराण, तन्त्र इन सभी का तात्पर्य उक्त दो ही निष्ठाओं में हो जाता है। वर्णधर्म, आश्रमधर्म भी इन दोनों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। कर्मों के लिए प्रकृति, योग्यता, अधिकार के भेद से भिन्नता होनी युक्त ही है। पक्षी को जन्म से ही उड़ने, मछली को जन्म से ही तैरने का सामर्थ्य होता है। मल्लाह और बढ़ई नाव चलाने और काठ की कारीगरी में अधिक कुशल होते हैं। वैश्य व्यापार में, क्षत्रिय युद्ध में, ब्राह्मण वेदरक्षण में अधिक कुशल होते हैं, क्योंकि आचार विचार एवं इच्छा का प्रभाव रज वीर्य पर पड़ता है। उनसे उत्पन्न सन्तान में वैसे संस्कार स्वाभाविक होते हैं। उन्हीं के अनुकूल जन्मना वर्णव्यवस्था और तदनुसार ही कर्मों के पार्थक्य हैं। इसी प्रकार

स्त्री पुरुषों के कर्तव्यों में भी पार्थक्य है। पतिशुश्रूषा, गृहव्यवस्था, शिशु संरक्षण, वैधव्यपालन आदि कर्म स्त्रियों के लिए विहित हैं। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास इन चार आश्रमों का भी उक्त निष्ठाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है। वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्म, उपासना, ज्ञान में ही हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग का भी अन्तर्भाव है। मूर्तिवाद, अवतारवाद, साकारवाद, निराकारवाद, सगुणवाद, निर्गुणवाद ये सभी वाद ब्रह्मवाद में आ जाते हैं। सभी तरह की उपासनाएँ उपासना में आ जाती हैं। शास्त्रानुकूल धार्मिक एवं तदविरुद्ध नैतिक, आर्थिक आदि कर्म कर्मकाण्ड में आ जाते हैं। अध्ययन, यजन और दान ये तीनों वर्णों के धर्म हैं। अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह यह ब्राह्मण की जीविकाएँ हैं। क्षत्रिय की शौर्य्य, वीर्य्य, युद्ध, प्रजापालनादि एवं वैश्य की कृषि, गोरक्षा, वाणिज्यादि जीविकाएँ हैं और सेवा शूद्र का धर्म है। वैदिकधर्म की यही विशेषता है कि संसार के मनुष्यमात्र अपने अपने अधिकारानुसार इसका समाश्रयण कर सर्वविध कल्याण को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् की भक्ति, भगवान् के चरित्र-श्रवण, भगवान् के स्वरूप का ध्यान यह सब ऐसे पवित्र हैं कि इनसे सभी का कल्याण हो सकता है। इतिहास पुराण श्रवण द्वारा स्वधर्मज्ञान एवं तदनुष्ठानपूर्वक भगवान् की भक्ति से प्राणिमात्र का कल्याण हो सकता है। इस तरह ईश्वरीय 'वैदिकधर्म' से सम्पूर्ण संसार के प्राणियों का कल्याण हो सकता है। (सिद्धान्त २।१)।

स्वधर्मपालन

सम्पूर्ण प्राणियों की जिस से प्रवृत्ति होती है, सारा विश्व जिस से व्याप्त है, अपने कर्मों से उसी परमात्मा की पूजा करके प्राणी सिद्धि प्राप्त कर लेता है—

"यत प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥"

वैसे तो पत्र, पुष्प, फल, जल, किसी से भी परमेश्वर की आराधना हो सकती है, परन्तु स्वधर्म ही भगवान् की आराधना का मूलमन्त्र है। स्वधर्म की उपेक्षा करके अनेकानेक उपचारों से भी पूजा करने पर भगवान् प्रसन्न नहीं होते। वर्णाश्रम के आचार से ही प्राणी द्वारा भगवान् की आराधना होती है, उसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं, उन की प्रसन्नता का और कोई कारण नहीं है—

"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥"

ठीक ही है, प्रभु की आज्ञा पालन करना ही तो सब से श्रेष्ठ धर्म है—

"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।"

आज्ञा उल्लङ्घन करनेवाला कितना भी भक्त हो, प्रभु उसे भक्त नहीं मान सकते—

"श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥"

अर्थात् श्रुति स्मृति मेरी आज्ञा है, उसे छोड़कर मनमाना काम करनेवाला, आज्ञा का उल्लङ्घन करनेवाला मेरा भक्त नहीं। इसीलिए 'विष्णुधर्मोत्तर' में कहा गया है—

"अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥"

अर्थात् जो अपने कर्म को छोड़कर 'कृष्ण, कृष्ण' कहते हैं, वे हरि के द्वेषी हैं, क्योंकि धर्म के ही लिए हरि का जन्म हुआ है। जिस धर्म के लिए अज, अव्यक्त, निराकार प्रभु सगुण-साकार होकर प्रकट होते हैं, भगवान् का भक्त होकर भी जो उसी धर्म का उल्लङ्घन करे, तो वह भक्त कैसा! किसी मित्र की चिट्ठी को तो सुवर्ण सिंहासन पर पधरा कर अनेक उपचारों से उस की पूजा करना और उस में लिखी बात पर ध्यान न देना जैसे मूर्खता है, वैसे ही भगवान् की 'गीता' की पूजना और उस में कही हुई बातों को न मानना, उस पर न चलना मूर्खता है।

शङ्का हो सकती है कि जब तरङ्ग में जल के समान सम्पूर्ण भूतों के भीतर, बाहर, मध्य, सर्वत्र भगवान् ही व्याप्त हैं और सब की ही स्थिति, गति, प्रवृत्ति उन्हीं से होती है, तब तो जीव स्वकर्म से प्रभु के पूजने, न पूजने में स्वतन्त्र ही नहीं है। प्रभु जैसा कराते हैं, जीव वैसा ही करता है—

"केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।"

परन्तु इस का समाधान यह है कि जैसे सम्राट् की दी हुई स्वतन्त्रता का सदुपयोग दुरुपयोग करने में सेनापति स्वतन्त्र है, सदुपयोग करने पर अनुग्रहणीय और दुरुपयोग करने पर निग्रहणीय होता है, वैसे ही प्रभु के परतन्त्र होने पर भी उसकी दी हुई स्वतन्त्रता भोगने और उस का सदुपयोग दुरुपयोग करने में जीवात्मा स्वतन्त्र होता है, जैसे बीजों का अङ्कुरोत्पादनादि यद्यपि पर्जन्य के परतन्त्र है, तथापि भिन्न भिन्न बीजों में भिन्न प्रकार के अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि उत्पन्न करने का निजी सामर्थ्य है, सभी यन्त्रों में जैसे हलचल विद्युत् के सम्बन्ध से होती है, परन्तु पृथक् पृथक् कार्य्य करने की शक्ति उन की निजी ही है, वैसे ही यद्यपि जीवात्मा के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकों में कार्य्य करने की शक्ति या हलचल परमात्मा से ही प्राप्त होती है, तथापि भगवान् से कार्य्य करने की शक्ति पाकर जीवात्मा उस के सदुपयोग या दुरुपयोग करने में स्वतन्त्र होता है। परमात्मा से मिली हुई स्वतन्त्रता का सदुपयोग करने से जीवात्मा को उन्नति होती है, दुरुपयोग करने से अवनति या पतन होता है। अतएव, जहाँ

"ईशस्य हि वशे लोको वायोरिव घनावलि।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयो।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥",

"एष एव साधु कर्म कारयति यमेभ्य उन्निनीषत एष एव असाधु कर्म कारयति यमेभ्योऽधो निनीषते"

इत्यादि श्रुति स्मृतियों से जहाँ जीवात्मा की परतन्त्रता मालूम पड़ती है, वहीं शास्त्रों में जीवात्मा के लिए विविध कर्त्तव्यों का विधान एवं

निषिद्ध कर्मों का निषेध किया गया है। विधान और निषेध समर्थ के लिए ही सम्भव है, असमर्थ के लिए विधान और निषेध सम्भव ही नहीं। लोहमयी शृङ्खला (हथकड़ी बेड़ी) से जिसके हाथ पैर बंधे हों, उस परतन्त्र को कोई भी जल लाने की आज्ञा नहीं दे सकता, वैसे ही यदि जीव अत्यन्त परतन्त्र होता, तो उस के लिए शास्त्रों में विधान और निषेध न किया जाता। ईश्वर या शास्त्र किसी अशक्य वस्तु का उपदेश नहीं करते। अतः स्पष्ट ही मानना पड़ता है कि भगवान् के परतन्त्र होता हुआ भी जीव भगवान् का ही दी हुई स्वतन्त्रता का उपभोग करता है और उसका दुरुपयोग करने से निगृहीत एवं सदुपयोग करने से अनुगृहीत होता है। इसीलिए सुरापान, परदारगमन आदि का निषेध एवं सन्ध्या, अग्निहोत्रादि का विधान किया गया है। अतएव स्वकर्म से भगवान् की अर्चना का भी विधान किया गया है।

जैसे पठनशक्तिसम्पन्न, पठन में स्वतः प्रवृत्त को ही अध्यापक प्रेरणा करता है, अतएव सक्रिय का ही प्रैष 'णिच्' प्रत्यय का विषय माना जाता है—

"सक्रियस्य च यः प्रेषः स प्रैषो विषयो णिचः।"

पठन में अत्यन्त अप्रवृत्त एवं शक्ति-विहीन को सहस्रों प्रेरणाओं से भी नहीं पढ़ाया जा सकता, वैसे ही जीव अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों, आदतों, स्वभावों, प्रकृतियों द्वारा विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तभी परमेश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदिकों में काम करने का सामर्थ्य देकर उन से कर्म कराते हैं। जैसे कोई किसी शास्त्र-वचन का अभ्यास करता-करता निद्रित हो जाने पर जागते ही उसी शास्त्र-

वचन का उच्चारण करने लगता है, चरखा चलाते-चलाते सोजाने वाली वृद्ध जागते ही चरखा चलाने लगती है, वैसे ही कर्मों को करता करता प्राणी निधन को प्राप्त होकर दूसरा जन्म ग्रहण करते ही प्रायः उन्हीं कर्मों में लग जाता है—

"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।"

संस्कारों के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त से ही परमेश्वर कर्म कराते हैं, तभी परमेश्वर में वैषम्य, नैर्घृण्य दोष की प्रसक्ति नहीं होती। अन्यथा किसी से उत्तम कर्म कराकर उसे उत्कृष्ट लोकों में ले जाना, किसी को अपकृष्ट कर्म कराकर अधम लोकों में ले जाना स्पष्ट ही विषमता और निर्दयता है। परन्तु यदि उन के प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही कर्म कराने में परमेश्वर की प्रवृत्ति हो, तब तो वैषम्य-नैर्घृण्य दोष नहीं आता।

"कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः"

इस सूत्र से यही बात स्पष्ट की गयी है। फिर भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं। प्रकृतिविहीन कोई भी नहीं है, ऐसी स्थिति में विधर्म परधर्म की प्रकृतिवाले प्राणी को विधर्म परधर्म में प्रवृत्ति होती है, उस को कोई भी नहीं रोक सकता। फिर विधि या निषेधात्मक शास्त्र सर्वथा ही व्यर्थ होंगे, प्रकृतिपराधीन ही प्राणियों की शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ के लिए भी कोई स्थान नहीं रह जाता। परन्तु इस का समाधान यह है कि इन्द्रियों के अर्थों में इन्द्रियों का रागद्वेष व्यवस्थित है, इसलिए 'न तयोर्वशमागच्छेत्।' अर्थात्

जिस तरह घट का कारण होनेपर भी मृत्तिका जलरूर सहकारीकारण के न होने पर घटनिर्माण करने में असमर्थ होती है, उसी तरह प्रकृति प्रवृत्ति कारण होने पर भी रागद्वेषरूप सहकारीकारण के विघटित होने पर कार्य्य करने में समर्थ नहीं होती। अतएव, देखते हैं कि हिंसाप्रवृत्ति का सिंह भी अपने बच्चों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ द्वेष नहीं है। अज्ञात रत्न में राग न होने से ही चोर उस की चोरी में प्रवृत्त नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि राग और द्वेष हरएक प्रवृत्तियों के कारण हैं, बिना राग-द्वेष की कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिए पुरुषार्थ की इच्छावाले पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह शास्त्र का अभ्यास और सत्पुरुषों का सङ्ग करके पाशविक उच्छृङ्खल रागद्वेष को मिटाने का प्रयत्न करे, शास्त्र के अनुसार दुर्गुणों से ही द्वेष और सत्कर्मों में ही राग सम्पादन करे। ऐसी स्थिति में स्वाभाविकी प्रकृति राग-द्वेषरूप सहकारी कारणों के विघटित होने पर निर्बल हो जायगी और फिर पुरुष को स्वानुरूप कार्य्यों में प्रवृत्त होने को लाचार नहीं कर सकेगी। अतः "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि" इस वचन का भी यही अर्थ है कि "न तयोर्वशमागच्छेत्" के अनुसार सच्छास्त्राभ्यास एवं सत्पुरुष-सङ्ग के द्वारा जिन्होंने स्वाभाविक राग-द्वेष को नहीं मिटाया, प्रकृति के सहकारियों का विघटन कर उसे निर्बल नहीं बनाया, उन प्राणियों को प्रकृतिपरतन्त्र होकर अवश्य तदनुरूप धर्मों में प्रवृत्त होना पड़ता है।

इन दृष्टियों से विदित होता है कि पुरुषार्थ के लिए प्राणियों को पूर्ण अवकाश रहता है, अतः सर्वथा ही विकर्मों और परकर्मों से बचकर

प्राणियों को अपने धर्म का अनुष्ठान करके उसे सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तरात्मा भगवान् के श्रीचरणों में समर्पण करके उन की आराधना करनी चाहिए। बिना भगवान् में समर्पण किये कर्मों का महत्त्व नहीं होता। कर्मों से बन्धन और ज्ञान से मुक्ति होती है। किसी भी प्रकार का कर्म क्यों न हो, उस से शुभाशुभ फलों की प्राप्ति अवश्य होती है। लोहमयी शृङ्खला के समान सुवर्ण शृङ्खला से भी प्राणियों का बन्धन ही होता है। अशुभ कर्मों से शूकर-कूकरादि योनिप्राप्ति, शुभकर्मों से मनुष्य, देवादि योनि की प्राप्ति होती है।

"पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्"

का प्रपञ्च लगा ही रहता है। परन्तु वे ही कर्म भगवान् के चरणों में समर्पित होने से मुक्तिरूप फल को फलने लगते हैं। विष जैसे मारक होता हुआ भी विशिष्ट औषधों के योग से सर्वरोग निवारक हो जाता है, वैसे ही कर्म स्वरूप से बन्धक होने पर भी प्रभुपादपङ्कज में समर्पण किये जाने पर मुक्तिरूप फल को फलने लगते हैं। इसीलिए कहा गया है कि भक्ति के बिना ज्ञान भी शोभित नहीं होता, फिर अनुष्ठानकाल, फलकाल एवं अपवर्ग (समाप्ति) काल में सर्वदा अभद्र कर्म यदि श्रीभगवान् के चरणों में न अर्पण किया जाय, तो वह किस तरह कल्याणकारक हो सकता है, चाहे वह निष्कामरूप से ही अनुष्ठित क्यों न हो—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥"

कर्म यदि भगवच्चरणपङ्कजसमर्पणबुद्धि से ही अनुष्ठीयमान हों, तो नैष्कर्म्य भी उन्हीं का फल है—

"वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यांसिद्धिं लभते रोचनार्था फलश्रुतिः ॥"

यद्यपि स्वर्ग, पशु पुत्रादि, लौकिक-पारलौकिक कर्मों के अनेक फल सुने गये हैं, तथापि वे फल केवल कर्मों में रुचि बढ़ाने मात्र के लिए हैं। माता बालक को गुरुच पिलाने के लिए मोदक का प्रलोभन देती है—

'वत्स ! गुडूचीं पिब, खण्डलड्डुकं ते दास्यामि ।'

बालक मोदक के प्रलोभन से गुडूची का पान करता है और लड्डू पाता है। वह समझता है कि मुझे गुडूचीपान का फल खांड का लड्डू ही है, परन्तु मा तो समझती है कि गुडूचीपान का फल रोग-निवृत्ति है, मोदक तो प्रलोभनमात्र है। इसी तरह अज्ञ प्राणी कर्मों के अनुष्ठानों का फल स्वर्ग, पशु, पुत्रादि समझता है, परन्तु भगवती श्रुति तो कर्मनिवृत्ति, नैष्कर्म्यप्राप्ति ही कर्मों का मुख्य फल मानती है, अन्य फलों को तो प्रलोभनमात्र समझती है। कोई कह सकता है कि जब कर्मनिवृत्ति ही कर्मों का फल है, तब तो पहले से ही कर्मों को छोड़ने का ही प्रयत्न क्यों न किया जाय ? पहले उन में फँसना, फिर उन से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना तो वैसा ही है, जैसे एक बार हाथ में कीचड़ लगाना और फिर जल से उस के प्रक्षालन का प्रयत्न करना। परन्तु इस का समाधान यह है कि कर्मों का अनुष्ठान किये बिना कर्म छूट ही नहीं सकते। जैसे क्षेत्र को निर्बीज करने के लिए उस

में खूब बीजवपन की अपेक्षा होती है, वैसे ही अपने आप को अकर्मा बनाने के लिए खूब शास्त्रानुसार कर्म करने की अपेक्षा होती है। "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" कर्मों के आरम्भ न करने मात्र से प्राणी को नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होती। प्राणी यदि शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त न होगा, तो उसे विकर्म में प्रवृत्त होना पड़ेगा। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्माओं को कर्म करते-करते आदत पड़ गयी है। वे बिना कर्म के रह ही नहीं सकते—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।"

ऐसी स्थिति में यदि देश, काल, वर्ण, वय, आश्रम आदि के अनुसार शास्त्रोक्त कर्म न किया जायगा, तो विकर्म में फँसना ही पड़ेगा। इसीलिए कहा गया है—

'नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥"

अर्थात् जो अजितेन्द्रिय एवं अज्ञानी प्राणी वेदोक्त वर्णाश्रमानुसारी अपने कर्म को आचरण में नहीं लाता, वह विकर्मरूप अधर्म से बार बार मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् उसके जीने-मरने की परम्परा कभी नहीं टूटती। इस दृष्टि से यही सिद्ध होता है कि प्रथम पाशविक, उच्छृङ्खल अविद्या, काम, कर्म, ज्ञानरूप मृत्यु से पार पाने के लिए शास्त्रानुसार अपने कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए और फिर शनैः शनैः उपासना आदि अन्तरङ्ग कर्मों के अनुष्ठान से बहिरङ्ग कर्मों को छोड़ना चाहिए। फिर क्रमेण सर्वेन्द्रियों एवं मन, बुद्धि के निर्विचेष्ट हो

पाने पर शुद्ध, अकर्म आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष उपलम्भ होता है। इसीलिए स्वकर्म से ही प्राणी सिद्धि को प्राप्त होता है।

कुछ लोग स्वतन्त्र ही कर्म से सिद्धि मान लेते हैं, परन्तु भगवान् का यह मत नहीं, वे तो कहते हैं कि स्वकर्म से परमेश्वर की पूजा करके प्राणी सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् कर्मों में यह स्वातन्त्र्य नहीं है कि वे अपना फल दे सकें। प्राणियों के देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारादिकों की चेष्टा (हलचल) रूप कर्म जड़ हैं। न उन्हें अपना ही, न करनेवालों का ही ज्ञान है। फिर वे किसे कैसे फल दे सकते हैं? चेतन से अनधिष्ठित अचेतन की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जीवात्मा भी अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् है. उसे अपने एक जन्म के भी सम्पूर्ण कर्मों का पता नहीं, फिर अनन्त जन्मों, अनन्त कर्मों और उनके क्या क्या फल कहाँ कैसे मिल सकते हैं, इत्यादि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर वह फल कैसे सम्पादन कर सकता है? कथञ्चित् सामर्थ्य हो, तो भी वह अपने सत्कर्मों का ही फल सम्पादन करेगा। स्वतन्त्र रहने पर असत्कर्मों के फल भोगने में किस की प्रवृत्ति हो सकती है? इसीलिए अनन्त ब्रह्माण्डों, उनके अनन्त प्राणियों, उनके अनन्त जन्मों और विचित्र कर्मों को जाननेवाला, फल दे सकनेवाला, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा माना जाता है। अतः जबतक कर्मों से भगवान् की पूजा न की जाय, तबतक कर्म व्यर्थ ही से रहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि जब भगवान् कर्मों के अनुसार ही प्राणियों को फल देते हैं, तब उनको मानने का प्रयोजन ही क्या है? परन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि कर्ममात्र न स्वयं फल दे सकता है, न कोई दृश्य,

पाषाणादि जड़ पदार्थ फल देने में समर्थ होते हैं, कर्म-फल किसी शक्तिसम्पन्न, ज्ञानवान् चेतन से ही मिल सकता है। अतएव काम लेनेवाला, कर्मफल देनेवाला सर्वदा चेतन ही अपेक्षित रहता है। वकील, बैरिस्टर, इञ्जीनियर, चिकित्सक आदि अनेक कार्यकुशल होते हैं, फिर भी उनसे कार्य लेनेवाले किसी धनवान् चेतन की अपेक्षा होती है। अनेकों विषय का आचार्य भी वृक्ष, पाषाण से काम करके फल नहीं पा सकता, किसी चेतन धनवान् को ढूँढता है। काम लेनेवाले धनवान् के न मिलने से ही बेकारी का प्रश्न उठता है और बड़े बड़े शिक्षित लोग अनेक उपायों से आत्महत्या कर बैठते हैं। इसीलिए कर्मकाण्ड का परम रहस्यमय सिद्धान्त ही यही है कि अपने अपने कर्मों से परमेश्वर की आराधना की जाय। कुछ न कुछ कर्म तो प्राणी बिना प्रेरणा ही के, अपने आप ही करता रहता है। भगवान् और शास्त्रों ने 'कुरु कर्मैव' इत्यादि वचनों से जिन कर्मों का विधान किया है, वे शास्त्रोक्त कर्म हैं। उन शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान से ही स्वाभाविक प्राकृतिक कर्म छूट सकते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान से जिनका महत्व और फल न भी प्रतीत हो, वे भी कर्म यदि शास्त्र से विहित हों, तो उनका अनुष्ठान आवश्यक है। शास्त्रोक्त कर्मों में भी अनेक प्रकार के कर्म हो सकते हैं, अतः उनमें भी स्वधर्म के ही अनुष्ठान पर भगवान् तथा शास्त्रों का अधिकाधिक ज़ोर है। पर धर्म तो विधर्म या अधर्म के समान ही त्याज्य है। तभी "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" इत्यादि वचनों से परधर्म को भयावह, स्वधर्म को कल्याणकारक कहा गया है। यदि सब के ही स्वेच्छानुसार सब कर्म ग्राह्य होते, तो धर्म के साथ 'स्व' 'पर' विशेषण लगाना ही व्यर्थ होता।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णों और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, सन्यासी इन चारों आश्रमों को अपने वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। कामचार, कामवाद, कामभक्षण छोड़कर शास्त्रपरतन्त्र होकर स्वधर्मानुष्ठान कर भगवान् के चरणों में अर्पण करते करते प्राणी के व्यवहार शुद्ध हो जाते हैं, पाशविकी इच्छाओं का निरोध हो जाता है, फिर अन्त:करण की पवित्रता में कुछ भी कठिनाई नहीं रह जाती। साथ ही यह भी विशेषता इस स्वधर्मानुष्ठान में है कि यदि शूद्र अपने धर्म का पालन करे, तो उसे अन्तःकरण-शुद्धि, ज्ञान-योग्यताप्राप्ति, पुराणादि श्रवण, मनन, निदिध्यासनक्रमेण तत्त्वसाक्षात्कार और मुक्ति मिल सकती है। यदि ब्राह्मण भी अपने धर्म का पालन न करे, तो उसकी भी अधोगति होती है। जैसे सूर्योदय होने पर जो जहाँ है, वहीं से सूर्य का दर्शन कर सकता है, वैसे ही जो जहां है, उसे उसी वर्ण और आश्रम के अनुसार अपना कर्म करने से सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। ब्राह्मण की सिद्धि प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के कर्मों की अपेक्षा नहीं है। शूद्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के धर्म अपेक्षित नहीं होते। शूद्र अपने ही कर्म से सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। प्रत्युत शूद्र को सिद्धि प्राप्त करने में बड़ी सुविधा है। ब्राह्मणादिकों के लिए ब्रह्मचर्य्यव्रत, वेद वेदाङ्ग का अध्ययन, अग्निशुश्रूषा, गुरुशुश्रूषा, भूमिशयन, सन्ध्या, जप, सूर्य्योपस्थान, विविध तपस्याओं और कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा होती है। तभी उसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सफल होता है। उसे संस्कारों और सूतक, पातक आदि का बहुत अधिक विवेचन करना पड़ता है। यदि ब्राह्मणादि जन्म प्राप्त करके भी कोई चाहे कि सूतक-पातक आदि का

विवेचन न किया जाय, संस्कारों का ध्यान न रखा जाय, सन्ध्यादिनिषेध भगवन्नामादि से ही कल्याण कर लें, तो यह असम्मत है, क्योंकि स्वधर्म छोड़ना भी दश नामापराधों में एक नामापराध है। नामापराधी नाम से भी सद्गति नहीं पा सकता। हाँ, शूद्र के लिए पाप से बचते हुए, द्विजातियों की सेवा करते हुए भगवन्नाम-कीर्तन और भगवान् के मङ्गलमय परमपवित्र चरित्रश्रवणादि से भी पूरा काम चल सकता है। इसीलिए भगवान् व्यासदेव ने "शूद्रो धन्यःशूद्रो धन्यः" कहा है। न उसे संस्कार की अपेक्षा, न ज्यादा सूतक-पातकादि का विचार; न ब्रह्मचर्य्यव्रतपालन और न तो वेद वेदाङ्गादि के अध्ययन की ही कठिनाई पड़ती है। इसी तरह पुरुषों की उपर्युक्त कठिनाईयां स्त्रियों को भी नहीं पड़तीं। पतिशुश्रूषा, पतिव्रतधर्म पालन से ही स्त्रियों को दिव्यातिदिव्य गति प्राप्त होती है। इसीलिए "स्त्रियो धन्या, स्त्रियो धन्याः, स्त्रियो धन्याः" इत्यादि वचनों से स्त्रियों को भी धन्य, धन्य, धन्य कहा गया है।

स्वधर्म-पालन ही प्राणियों का कल्याणकारक है। इसीलिए बन्धु-बान्धवादिकों की हत्या जिस क्षात्रधर्म में करनी पड़ती है, उस अत्यन्त क्रूर धर्म के लिए भी भगवान् कहते हैं —

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥"

अर्थात् हे अर्जुन! स्वधर्म को भी देखकर तुम्हें प्रकम्पित न होना चाहिए। धर्मयुक्त सङ्ग्राम से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कल्याणकारक कोई भी नहीं है। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।'

-परधर्म चाहे बहुत अच्छी तरह से भी अनुष्ठान किया जाय, अपना धर्म विगुण भी हो, तो भी अपना ही धर्म-पालन करना श्रेष्ठ है। यों तो कर्म-मात्र ही प्राकृत होने से इसतरह दोषसमावृत है, जैसे धूम से अग्नि आवृत होता है। जब सभी कर्म दोष से आवृत हैं, तब फिर अपना ही कर्म आदरपूर्वक क्यों न किया जाय? यदि कहा जाय कि फिर छोड़ ही दिये जांय कर्म, परन्तु यह असम्भव है। कोई प्राणी बिना कर्म किये क्षण-मात्र भी नहीं टिक सकता। ऐसी स्थिति में शास्त्रोक्त कर्म न किये जायंगे तब तो असत् कर्मों में प्रवृत्ति हो जायगी। अतः स्वधर्म का ही अनुष्ठान करना आवश्यक है।

स्वधर्म या स्वकर्म में कुछ तो जीविकार्थ कर्म हैं और कुछ परलोकार्थ। जीविकार्थ कर्मों में कुछ सम्पत्ति विपत्तिभेद से परिवर्तन हो जाता है, परन्तु दूसरे प्रकार के कर्मों में ऐसा नहीं होता। संस्कारों और शास्त्रों का अधिकार जन्म से ही निर्धारित है। ब्राह्मण को अध्ययन-अध्यापन का अधिकार है। क्षत्रिय, वैश्य को अध्ययन का ही अधिकार है। संस्कारहीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा स्त्री, शूद्र इतिहास पुराणों के श्रवणाधिकारी हैं। स्वधर्मनिष्ठ स्त्री, शूद्र सद्गति के अधिकारी हैं, परन्तु संस्कारशून्य या धर्मभ्रष्ट द्विजाधम की गति में बड़ी कठिनाई है। अपने वर्ण, आश्रम के अनुसार श्रुति-स्मृति से कहे गये धर्मों तथा जीविकार्थ कर्मों को करके श्रीभगवान् के चरणों में समर्पण करना भगवान् की दिव्य आराधना है। अपने अधिकार के कर्म गुण हैं, विपरीत दोष हैं—

> "स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
> विपरीतस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥"

ब्राह्मण का उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन न करना बड़ा दोष है। वही कर्म शूद्र को करना दोष है। प्रणव के उच्चारण, होम और शालग्राम की पूजा से, कपिला क्षीरपान से शूद्र चन्डाल हो जाता है, परन्तु यदि वही अहिंसा, क्षमा, दयादिसहित भगवान् की भक्ति करे, तो उसी से उसकी परम सद्गति हो जाती है। विशेषतः प्राणियों के लिए भगवान् का आदेश है कि वे जो भी कर्म करें, श्रीभगवान् के चरणों में समर्पण करें। इससे प्राणी अपने सभी व्यवहारों को शास्त्र के अनुसार शुद्ध बनावेगा। प्राणी का यह स्वभाव होता है कि जो वस्तु भगवान् को समर्पण करनी होती है, उसकी शुद्धि पर बहुत ध्यान रखता है। यदि अपनी सभी हलचलों को श्रीभगवान् में समर्पण करना है, तो छल, झूठ, बेईमानी आदि के भाव हट जाते हैं। इस से समाज और राष्ट्र में बड़ी शान्ति फैलती है। जो व्यक्ति लौकिक-पारलौकिक सब कर्मों को करते समय सर्वविज्ञान, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को स्मरण रखता है, उस को कभी भी शान्ति भङ्ग नहीं होती और न तो उस से कभी अपवित्र कर्म होते हैं। किसी दुरदृष्ट की प्रेरणा से कुछ अशुभ कर्म बनते हो वह पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करता है। व्यवहार सुधरने पर ही उपासना और ज्ञान के विचार सफल होते हैं।

जो व्यक्ति स्वयं स्वधर्म के पालन में दृढ़ता रखता है, उस के उपदेश के बिना लोग उस के आचरण से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस तरह उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ सभी श्रेणी के स्त्रियों, पुरुषों को लाभ होता है। संसार में उपदेश से भी उतना लाभ नहीं होता, जितना आचरण से होता है। इसलिए अर्जुन से भगवान् ने कहा कि तुम अपना धर्म

पालन करो, इसी से सब का कल्याण होगा। 'स्त्रियां विधवा होकर व्यभिचारिणी बन वर्णसङ्करी सृष्टि करेंगी, जिस से कुलघ्नों और कुल को नरक होगा' अर्जुन की इस अनुपपत्ति पर और कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अर्जुन से भी इस सम्बन्ध में पुनः कुछ प्रश्न करते नहीं बना, क्योंकि स्पष्ट था कि यदि अर्जुन स्वयं स्वधर्म छोड़ दे, तो उसे वैसे प्रश्न का अवकाश ही नहीं रहता। फिर तो विधवा क्या सधवा भी अर्जुन को आदर्श मानकर स्वधर्म छोड़ सकती है। फिर तो कुमारियों का, सधवाओं का भी आज के समान ही धर्मत्याग स्वाभाविक ही था। स्वधर्म-पालन से तो विधवा भी शिक्षा ग्रहण कर सकती है, जैसा कि उस समय हुआ। प्रायः उन सभी विधवाओं में कोई भी व्यभिचारिणी नहीं हुई कोई सती हो गयी, कोई वैधव्यधर्म पालन कर मुक्त हो गयी। ठीक ही है, जहाँ शूर, वीर, स्वधर्मनिष्ठ पुरुषों की अधिकता होती है, वहाँ स्त्रियाँ अवश्य स्वधर्मनिष्ठ होती हैं। मेवाड़ के वीरों की बहनों, बेटियों, पत्नियों का जौहर प्रसिद्ध ही है। जब वहाँ के वीर मातृभूमि की, धर्म की, सभ्यता की रक्षा के लिए प्राणों की परवाह न कर लड़ते थे, तब उन की वीरसू माताओं या वीरपत्नियों के मन में कुत्सित भावनाएँ कैसे उठतीं! जहाँ स्वधर्म त्याग, परधर्म विधर्म का ग्रहण चल पड़ता है, कायरता और अनाचार, व्यभिचार की मात्रा बढ़ जाती है, वहीं स्त्रियों में भी दुर्विचार उठते हैं। अशुद्ध आचरणों, अशुद्ध वातावरणों एवं उत्तेजक साहित्यों, पत्र पत्रिकाओं, उपन्यास, नाटक, सिनेमाओं से बुरी भावनाएँ बढ़ती हैं। उन के मिटाने में भी स्वधर्मनिष्ठ, आदर्शभूत व्यक्तियों की ही आवश्यकता होती है। चन्द्रोद

यादि महौषधों के सेवन में जैसे कुपथ्य परिवर्जन, पथ्य-सेवन की अपेक्षा होती है, वैसे ही भगवद्भक्ति, भगवद्ध्यान, ज्ञान में भी निषिद्ध-परधर्म से बचने और स्वधर्म-पालन की परमावश्यकता होती है। इसलिए स्वधर्म-कर्म से भगवान् की आराधना से ही प्राणी सिद्धि को प्राप्त होता है। (सिद्धान्त ३।४७-४८)।

राष्ट्रोन्नति और धर्म

बिना धार्मिक भावनाओं का प्रतिष्ठापन हुए सुखपूर्वक समाज एवं राष्ट्र का सुसङ्गठन हो ही नहीं सकता। सुन्दर स्त्री, रत्न तथा राज्यादि विहीन लोग दूसरों की उक्त सुख सामग्रियों को देखकर स्पृहा या ईर्ष्या करते हैं। कोई क्यों साम्राज्यादि सुख-सामग्री-सम्पन्न और हम क्यों दरिद्र एवं दुःखी रहें? बस, एतन्मूलक राजा प्रजा, किसान-जमींदार और पूँजीपति-मजदूरों का सङ्घर्ष होना स्वाभाविक है। एक ओर ईर्ष्या या रागवश मजदूर, किसान सङ्गठन करते हैं और क्रान्ति पैदा करके पूँजीपति, जमींदार आदि को मिटा देना चाहते हैं। दूसरी ओर राजा तथा धनी मानियों को भी प्रमादवश गरीबों का शोषण करके अपनी ही भोग सामग्रियों में सर्वस्व लगाने की सूझती है। एक वर्ग कुछ नहीं देना चाहता, दूसरा सब कुछ ले लेना चाहता है। इस तरह धन एवं भोग में आसक्त धनिकवर्ग दरिद्रता, उत्पीड़न एवं ईर्ष्या से पीड़ित निर्धनवर्ग अपने-अपने कर्तव्यों से वञ्चित होकर राष्ट्र और समाज के जीवन को सङ्कटपूर्ण बना देते हैं। शास्त्र एवं धर्म एक ऐसी वस्तु है, जिससे सभी में सन्तोष एवं सामञ्जस्य की भावना प्रतिष्ठित होती है। शास्त्र और धर्म का प्रभाव ऐसा था कि लोग पर स्त्री एवं पर द्रव्य को विष के समान मानते थे। लोगों की यह धारणा थी कि सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख में अपने शुभाशुभ कर्म ही मुख्य हेतु हैं। क्यों हम दुःखी एवं दरिद्र हुए, इसका समाधान वे इस तरह कर लेते थे कि, जैसे अपने कर्मवश कोई

पशु, कोई पक्षी, कोई अन्ध, बधिर या उन्मत्त होता है, वैसे ही कर्मों के अनुसार ही कोई भोग सामग्री से विहीन और उससे कोई सम्पन्न होता है।

प्राणी को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति भोगनी पड़ती है। उसे अपनी ही सम्पत्ति तथा सुख-सामग्री में सन्तुष्ट रहना चाहिये। परकीय धन या कलत्र की स्पृहा न करनी चाहिये। पुरुषार्थ से अपने आप हृष्ट-पुष्ट हो जाना और बात है, दूसरों की हृष्टता-पुष्टता मिटाकर अपने समान उसे भी बना देना और बात है। ऐसे ही अपने सत्प्रयत्नों से सुन्दर भोग-सामग्री सम्पादन करना यद्यपि युक्त ही है, तथापि दूसरे की सामग्रियों से ईर्ष्या करना, उसे अपहरण करना अवश्य ही पाप है। ऋषि-लोग अरण्यों में रहते थे और नदियों के तट पर कुद्दाल आदि से कुछ सामग्री उत्पन्न करते थे। उस में से भी वे राजा का अंश निकालकर उसकी इच्छा न होते हुए भी उसे दे आते थे। पाप बन जाने पर पापी स्वयं जाकर राजा से दण्ड-ग्रहण करते और उससे अपनी शुद्धि समझते थे। अब भी पाप बन जाने से अपने-आप पापों के प्रायश्चित्त करने की प्रथा भारत में कुछ कुछ प्रचलित है। लिखित महर्षि ने अपने भाई शङ्ख के ही उद्यान से फल लेने को चोरी समझा और उससे शुद्ध होने के लिए राजा के यहाँ स्वयं जाकर राजा की अनिच्छा रहते हुए भी हस्तच्छेदन कराया। इस तरह जब अपनी न्यायोपार्जित सामग्रियों में सन्तुष्ट रहने का अभ्यास था, परकीय या अन्याय-समागत वस्तुओं से घृणा एवं भय था, परोपकार करने में पुण्यबुद्धि एवं उत्सुकता तथा पर-पीड़न में घृणा और उद्वेग होता था, तब समाज तथा राष्ट्र की व्य-

वस्था स्वाभाविक ही थी। मिलने पर भी सभी मस्तक यही प्रयत्न करते थे कि दूसरे की वस्तु न ली जाय। इसके विपरीत देनेवालों को यही रट रहती थी कि किसी प्रकार अपनी वस्तु परोपकार में लगे। घर घर आतिथ्यसत्कार की प्रथा थी। वैश्वदेव के उपरान्त द्वार पर खड़े होकर अतिथि की प्रतीक्षा की जाती थी। उसके न मिलने पर खेद प्रकट किया जाता था। अग्निहोत्र में अग्नि भगवान् से अतिथि पाने की प्रार्थना की जाती है। क्या ही उदात्त भावना थी। बहुत उपवासों के बाद रंतिदेव वैश्वदेवादि कार्य करके जब थोड़ासा सत्तू खाने बैठे, तब पुल्कस आदि कई अतिथि आ पहुँचे। रन्तिदेव सब कुछ उन्हें देकर जलपान करने लगे। इतने ही में एक श्वपच अपने कुत्तों के साथ आ पहुँचा और उसने अपनी क्षुधा पिपासा की व्यथा सुनायी। रन्तिदेव समस्त जल प्रदान करके भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि 'हे नाथ! मैं स्वर्ग अपवर्ग आदि कुछ भी नहीं चाहता, चाहता हूँ केवल यही कि सन्तप्त, आर्त प्राणियों का कष्ट मुझे मिल जाय और सभी प्राणी सुखी हो जाय—

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥"

यज्ञयागादि के व्याज से सभी सम्पत्तिशाली अपनी सम्पत्तियों का विभाग करके समता उत्पन्न कर लेते थे। राम के यज्ञ में महाभागा वैदेही के हाथ में केवल सौमङ्गल्य सूत्र ही अवशिष्ट रह गया। यद्यपि वह समय साम्राज्यवाद का था, तथापि वर्तमान जनतंत्र या साम्यवाद उस शासन के सौन्दर्य की बराबरी कथमपि नहीं कर सकते। राजा अपने भुजबल से साम्राज्यपालन करते थे, उनका राष्ट्र नित्

भुजबल पर सुरक्षित, था, सेना केवल शोभा के लिए थी। उसके शैथिल्य होने पर सम्राट् स्वतः युद्धभूमि में अवतीर्ण होते थे, फिर भी बिना प्रजा की अनुमति के पुत्र तक को शासन भार नहीं दिया जा सकता था। प्रजा के सन्तोष के लिए सम्राट् अपने पुत्र, पत्नी तक का परित्याग कर सकते थे। सूर्य जैसे तिग्म रश्मियों से पृथ्वी का रस ग्रहण करते हैं और वर्षाऋतु में उसे भूमि को प्रदान कर देते हैं, वैसे ही प्रजा से कर तो लिया जाता था, परन्तु उसका लक्ष्य केवल प्रजा का संरक्षण ही था।

परलोक में अभीष्ट फलप्रदान करनेवाले सन्ध्या, जपादि धर्म का अनुष्ठान तथा अनिष्टप्रद सुरापान, अनृत-परिवर्जन तो नास्तिकों को भी करना चाहिए। फल के सन्देह में भी कृषि, व्यापारादि कार्य्य किये ही जाते हैं। इसी तरह परलोक के सन्देह में भी धर्म करना ही चाहिए। यदि परलोक में धर्म की अपेक्षा हुई, तब तो न करनेवाला पछतायेगा तथा करनेवाला आनन्दित होगा और यदि धर्म की कुछ अपेक्षा न हुई, तो भी करनेवाले की कोई हानि नहीं। किसी दूर जङ्गली प्रदेश में जाना हो, तो भोजन सामग्री और रक्षा के साधन शस्त्र अस्त्रादि से सुसज्जित होकर ही जाना चाहिए। यदि वहाँ व्याघ्रादि का आक्रमण हुआ, तो वे काम आयेंगे, नहीं तो पछताकर प्राण गँवाना पड़ेगा। परन्तु सामग्री रहने पर यदि आवश्यकता न भी हुई, तो भी कोई हानि नहीं। अनादि काल से आस्तिक-नास्तिक का शास्त्रार्थ चलता है, कभी नास्तिकों का और कभी आस्तिकों का पराजय होता है। कोई भी मत अत्यन्त खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। सर्वत्र ही पराजय होने पर भी मति का ही

दौर्बल्य समझा जाता है, न कि मत का। इसलिए समझदार नास्तिक को भी परमेश्वर और धर्म के विषय में सन्देह तो हो ही सकता है, परन्तु ऐसे भी बहिर्मुख देश तथा समाज हैं, जहाँ परमेश्वर और धर्म की चर्चा तक नहीं, फिर सन्देह कहाँ से हो सकता है? सन्देह से जिज्ञासा और जिज्ञासा से बोध भी अनिवार्य होता है। अतः ईश्वर और धर्म में सन्देह तक अतिदुर्लभ है। इसलिए सन्देह हो, तो भी नास्तिकों को धर्म का अनुष्ठान करना परमावश्यक है।

कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों को माननेवालों में कष्ट ही दिखाई देता है, अतः शास्त्र न मानना ही श्रेष्ठ है। परन्तु यह ठीक नहीं। जहाँ शास्त्र न माननेवालों की संख्या अधिक है, वहाँ शास्त्र मानने वालों को कष्ट है और जहाँ शास्त्र माननेवालों की संख्या अधिक है, वहाँ उसके न माननेवालों को भी दुःख है। परन्तु बुद्धिमानों को तो यह सुनिश्चित है कि यथेष्ट चेष्टावाले वानर की अपेक्षा नर में यही विशेषता है कि वह शास्त्र मानता है और शास्त्रानुसार व्यवहार करता है। प्रमाणभूत चक्षु के बिना जैसे लोग सुख के भाजन नहीं होते, वैसे ही प्रमाणभूत शास्त्र के बिना भी प्राणियों का सुख नहीं होता। कहा जाता है कि लोक में उसके विपरीत ही देखने में आता है। शयाज्ञ दुःखी और अशयाज्ञ सुखी है। परन्तु यह बात बिना विचार के ही है। तृप्ति को ही सुख कहा जाता है, पशुओं में भोजन से और मनुष्यों में ज्ञान से तृप्ति होती है। ज्ञान शास्त्र से होता है। क्या ज्ञान सुख का प्रतिबन्धक है? कौनसा ऐसा सुखसाधन है जो प्रमाणविहीन हो? आरण्यक पशुओं को भी तो सुख के लिए श्रोत्र, चक्षु आदि प्रमाणों की अपेक्षा है, उनके वैगुण्य में वे भी दुःखी

ही होते हैं। मनुष्य की यह विशेषता है कि उस में पशुसाधारण प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण है, साथ ही शास्त्र प्रमाण अधिक है। जैसे राजा का आश्रय लेकर निर्बल प्राणी भी प्रबल से भी प्रबल को जीत लेता है, वैसे ही धर्म और न्याय के सहारे प्राणी सम्राट् का भी दबा सकता है। महा स्वतन्त्र निजभुजबल से विश्वविजेता धर्म के ही भय से आत्मनियन्त्रण करता है। खड्गादि अस्त्र शस्त्रसम्पन्न करोड़ों शूर-वीर निःशस्त्र स्वामी के भी अधिक्षेपों को सहते हैं। प्रधान कारण यहाँ स्वामिद्रोह का भय ही है। कहीं कहीं अधर्म के प्राबल्य में भी प्राणी को अनन्त साम्राज्य, समृद्धि तथा वैभव देखा जाता है। परन्तु, वहाँ पूर्व जन्म का ही धर्म और तप मूल समझना चाहिए। रावण का अद्भुत वैभव देखकर श्रीहनुमान्जी ने कहा था कि 'यदि अधर्म बलवान् न होता, तब तो यह रावण शक्रसहित सुरलोक का शासक होता—

> "यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
> स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥"

दूसरे प्रसङ्ग में रावण से ही श्रीहनुमान्जी ने कहा था कि 'हे रावण! पूर्व सुकृतों का फल तुमने पा लिया, अब इस अधर्म का भी फल शीघ्र ही पाओगे'—

> "प्राप्तं धर्मफलं तावत् भवता नात्र संशयः।
> फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे ॥"

इसलिए सिद्धान्त यही होना चाहिए कि जो कर्म धर्म से विरुद्ध हो,

उससे चाहे कितना भी बड़ा फल क्यों न हो, बुद्धिमान् पुरुष उसका सेवन कदापि न करे—

"धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न हि तद्धितमुच्यते॥"

धर्म से विद्या, रूप, धन, शौर्य्य, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग, मोक्ष सब कुछ मिलता है—

"विद्या रूपं धनं शौर्य्यं कुलीनत्वमरोगता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते॥"

ऐसे धर्म को छोड़कर क्या कोई राष्ट्र उन्नति कर सकता है! (सिद्धान्त ३।१)।

———

संस्कृति का आधार

कहा जाता है कि सारे संसार में आजकल सांस्कृतिक संघर्ष चल रहा है। सभी अपनी संस्कृति की रक्षा तथा उसके प्रचार और दूसरे की संस्कृति का नाश करने पर तुले हुए हैं। संस्कृति के नाम पर भीषण जनसंहार हो रहा है। पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में संस्कृति की चर्चा बराबर चलती रहती है। विचारशील विद्वान् भारतीय संस्कृति को ही सर्वोच्च बतलाते हैं। पर कहीं यह नहीं बतलाया जाता कि उस संस्कृति का आधार क्या है और उसका स्वरूप किससे जाना जा सकता है। इस पर विचार करने के पहले एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। आजकल की पद्धति के अनुसार शब्दों के अर्थ समय-समय पर कई कारणों से बदलते रहते हैं। यदि यही बात है तो फिर मतभेद भी अनिवार्य है। परन्तु अपने यहाँ दूसरा ही सिद्धान्त है। वैदिकों के मत में शब्द नित्य हैं और उनका अर्थ के साथ सम्बन्ध भी नित्य है। अतएव, उनमें अनिश्चय, सन्देह तथा विवाद के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस तरह 'संस्कृति' और 'सभ्यता' भी दोनों ही निश्चित शब्द हैं और उनका अर्थ भी निश्चित है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातु से 'क्तिन्' प्रयत्न होने पर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है, 'सम्यक् शोभन कृति' और इसी संस्कृति के भीतर 'सभ्यता' भी आ जाती है। जैसे खान में उत्पन्न होनेवाले हीरक और माणिक्य में संस्कार द्वारा उनकी दिव्य शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या

तत्त्वाध्यात्मिक प्रपञ्चनिमग्न तमावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कार द्वारा व्यक्त की जाती है। तथाच आत्मा को प्रकृति के निम्न स्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपर के स्तरों से सम्बन्धित करने या प्रकृति के सब स्तरों से मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्द-साम्राज्य-सिंहासन पर समासीन कराने में उपयुक्त जो कृतियाँ, वही 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं अर्थात् सांसारिक निम्न स्तर की सीमाओं में आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल जो कृति है, वही 'संस्कृति' है। व्यापक दृष्टि से कह सकते हैं कि लौकिक, पारलौकिक, नैतिक, धार्मिक, वैयक्तिक, सामूहिक अभ्युत्थान के अनुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारों की शोभन हलचल या रहन सहन ही 'संस्कृति' है। अतः सभ्यता भी संस्कृति का एक देश होने के कारण उसी में अन्तर्भूत समझी जानी चाहिए, क्योंकि सभा में वही साधु—अच्छा—समझा जा सकता है, जिसके संयत और शोभन व्यवहार होंगे। किनके सन्निधान में, कहाँ, किससे कैसे बोलें, कैसे बैठें इस विषय में जो कुशल है, वही 'सभ्य' है। अब यह प्रश्न उठता है कि सब प्रकार की कृतियों (कर्मों) का सभ्यत्व, असभ्यत्व और सौष्ठव-असौष्ठव कैसे जाना जाय और किस कसौटी पर उनकी भलाई-बुराई की परख की जाय, जिससे कि उन उन कर्मों या रहन-सहन, आचार विचारों को आत्मोत्थान के अनुकूल मानकर उन्हें संस्कृति कहा जाय?

इसका मोटा एवं अविप्रतिपन्न उत्तर यही है कि जिस राष्ट्र, जाति या सम्प्रदाय में जो महापुरुष या ग्रन्थ आदेश सर्वमान्य हुए हों, उन्हीं के आचार और उपदेश को ही कसौटी मानना चाहिए। वैदिकों के सब

प्रकार के कर्मों का सम्यक्त्व वेद-शास्त्र की कसौटी पर परखा जाता है। अतएव, वेद शास्त्रपरीक्षित तदनुसारी रहन-सहन, आचार विचार ही वैदिक संस्कृति है। ईसाई, मुसलमानों के यहाँ भी उनके महापुरुष या धर्म-ग्रन्थों के आधार पर ही उनके रहन-सहन, आचार-विचार का सौष्ठव, सम्यक्त्व निश्चित किया जाता है। उनके कर्मों और कृतियों की भी भलाई बुराई की कसौटी उनके धर्मग्रन्थ ही हैं। यह अवश्य है कि भिन्न भिन्न जातियों एवं समाजों की कुछ रूढ़ियों का भी संस्कृति के ही भीतर समावेश समझा जाने लगता है। इसीलिए कहा जाता है कि आज कोई भी संस्कृति अछूती नहीं बची है, संस्कृतियों में साङ्कर्य्य फैल गया है, बहुत से आचार-विचार, रहन सहन हिन्दुओं के मुसल्मानों में और उनके हिन्दुओं में आ गये हैं। भाषा, साहित्य और व्यवहारों के सङ्घर्ष से कुछ दिन संस्कृतियों का सङ्घर्ष और फिर किसी का किसी में साङ्कर्य्य एवं किसी संस्कृति का नाश तक हो जाता है। अतएव, 'हमारी संस्कृति खतरे में है' इस प्रकार की आवाजें आ रही हैं। ऐसी दशा में संस्कृति का शुद्ध स्वरूप उन उन जातियों एवं सम्प्रदायों के निश्चित धर्मग्रन्थों के ही आधार पर निश्चित किया जा सकता है। यद्यपि सभी जाति और देश के महापुरुषों ने देश, काल, अवस्था और प्रकृतियों को सोच समझकर उनके आत्मोत्थान के लिए उपयुक्त ही रहन-सहन, आचार विचार नियुक्त किया है, तथापि सूक्ष्मता के साथ देखें तो मालूम होता है कि प्राकृत पाशविक रहन-सहन को नियमों से परिष्कृत कर देने पर ही संस्कृति स्थित होती है। देश, काल, व्यक्ति और उनकी प्रकृतियाँ विचित्र हैं। उनको जानकर प्राकृत स्वाभाविक चेष्टाओं में कितना नियमन करना युक्त

है, यह अल्पज्ञ जीवों को निर्णीत होना दुःशक ही है। यद्यपि चित्तसत्त्व सर्वार्थ प्रकाशन में समर्थ है, तथापि राजस, तामस भावों के उद्भव से ज्ञान शक्ति कुण्ठित रहती है। तपस्या, योगादि सद्कर्मों के अनुष्ठान से राजस-तामस भावों के दूर होने से निरावरण विशुद्ध सत्त्व होने से ज्ञान-शक्ति विकसित होती है। फिर भी जब कि अविशुद्धसत्वप्रधान अविद्या जीव की उपाधि है अथवा तमःप्रकृति समुद्भूत पञ्चभूतों से ही अन्तःकरण का उद्भव है, तब पूर्ण ज्ञानशक्ति का विकास जीव में होना कठिन है। यदि कोई अपने प्रधान ग्रन्थ के रचयिता और संस्कृति के निर्णायक को ईश्वर कहे, तो दूसरे भी अपने ग्रन्थकार या संस्कृति-संस्थापक को वही कह सकते हैं। फिर जो अभी प्रयोगशाला में किसी प्रयोग का अनुभव कर रहे हैं, उनसे निर्धारित नियमों से संस्कृति-सभ्यता का निर्णय कैसे हो सकता है? यदि सभी संस्कृतियां ईश्वर से प्रतिष्ठापित हों, तो फिर उनमें आकाश पाताल का अन्तर क्यों देखा जाता है? देश-काल अधिकारी के भेद से यदि संस्कृतियों की व्यवस्था हो, तब तो बात दूसरी है। फिर यहाँ एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त को मूल से खोद फेंकना चाहता है, उसे देश का सर्वनाशक समझता है, वहां समन्वय की आशा को दुराशा के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? अतः अनादि वेद शास्त्र एवं तदनुयायी धारणा ध्यान-समाधिसम्पन्न महर्षियों के सिद्धान्त पर ही शुद्ध सर्वोपकारक संस्कृति स्थित होती है। अतएव बहुतसी संस्कृतियां और सभ्यताएँ उत्पन्न होकर नष्ट हो गयीं और बहुतसी उत्पन्न हो रही हैं। परन्तु अपने यहाँ परमेश्वर और जीव के समान ही अनादिसिद्ध वेद-शास्त्र के अनुसार लोक-परलोक के नैतिक तथा धार्मिक अभ्युदय के अनु

कुल सामूहिक, वैयक्तिक देहादि के रहन सहन, आचार-विचार ही संस्कृति हैं। इसीलिए वह इतनी व्यापक है कि उसमें सब प्रकार की सभी हलचलों पर नियन्त्रण किया है। अतएव यहाँ सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक और धार्मिक आचारों के क्षेत्र अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, किन्तु सब का ही सब के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि सभी व्यापारों में पद-पद पर पुण्य-पाप, आचार-विचार की व्यवस्था है। वस्तुतः मानव-जातिमात्र के लिए वैदिक संस्कृति कल्याणकारिणी है, क्योंकि इसमें अधिकार की चर्चा बहुत है। सभी प्राणियों को सुविधापूर्वक लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय-एवं निःश्रेयस के लिए अवकाश रखा गया है।

विचार करने से मालूम होगा कि संस्कृति या सभ्यता के भिन्न-भिन्न अर्थ उपर्युक्त अर्थ में अन्तर्भूत हो जाते हैं। यदि ज्ञानवृद्धि सभ्यता या नागरिकता सभ्यता है, तो यहाँ भी तात्पर्य यथार्थ ज्ञान और योग्य शिक्षा से ही है। परन्तु ज्ञान की यथार्थता और शिक्षा की योग्यता जानने के लिए यदि कसौटी की अपेक्षा पड़ेगी, तो प्रथम भिन्न-भिन्न देश के महापुरुषों के ग्रन्थ और फिर अन्त में वेद की ही शरण लेनी होगी। लौकिक उन्नति ही यदि सभ्यता या संस्कृति मानी जाय, तो भी यह अवश्य ध्यान रखना होगा कि ऐसी लौकिक उन्नति परिणाम में सर्व-संहारिणी न हो। जो आगन्तुक उन्नति रही-सही पुरानी उन्नति का भी नाश कर डाले, वह उन्नति नहीं अर्थात् अनर्थानुबन्ध, अधर्मानुबन्ध, निरनुबन्ध अर्थ 'अर्थ' नहीं, किन्तु वह तो 'अर्थाभास' ही है। धर्मानुबन्ध, अर्थानुबन्ध अर्थ ही यथार्थ अर्थ है, वही स्थिर तात्त्विक उन्नति है। देश, काल, परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य संस्कृति पर पड़ता है, परन्तु

भिन्न भिन्न कृतियों के सम्यक्त्व-असम्यक्त्व, का निर्णय इतने ही से नहीं होता। किसी परिस्थिति में कितने ही प्रमादी पुरुष अपनी दृष्टि से आत्म-संयम न कर सकने के कारण अनुचित कृतियों को भी उचित मान लेते हैं। अतः किसी भी देश के काल, जाति, परिस्थिति में वही कृति आचार-विचार, रहन-सहन संस्कृति हो सकती है जो सम्यक्, समीचीन शोभन या साध्वी है और जिसका लोक-परलोकदृष्टि से दुष्परिणाम नहीं है। अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रतिकूल न होकर जो अनुकूल ही हो, वही कृति 'संस्कृति' है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार की समस्त चेष्टाओं, कृतियों की भलाई-बुराई तथा उनके तात्कालिक या कालान्तर-भावी सुपरिणाम या दुष्परिणाम का बोध जीवों के लिए दुष्कर है, क्योंकि उनमें कुछ न कुछ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोष होते ही हैं। इसलिए उनसे निर्णय नहीं हो सकता। रही ईश्वर की बात, तो वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अवश्य है, उसकी किसी भी कृति के सुपरिणाम-दुष्परिणाम, सम्यक्त्व-असम्यक्त्व के निर्णय में सन्देह नहीं है। परन्तु किस शास्त्र या संस्कृति के निर्माता या द्रष्टा परमेश्वर हैं इसका निर्णय पूर्वकथनानुसार अत्यन्त कठिन है। अतः ईश्वर के समान ही अनादि, अपौरुषेय वेदों से ही किसी भी देश, काल परिस्थिति में किन्हीं भी कर्मों की भलाई-बुराई, सुपरिणाम-दुष्परिणाम का निर्णय करना युक्त है।

दूसरी दृष्टि से भी देखें, तो विदित होगा कि यदि शासक या माता-पिता अपनी प्रजा और पुत्र को असत्कर्मों या कृतियों का निरोध करके सम्यक् सत्कर्मों या सत्कृतियों में प्रवृत्त न करें, तो

यह उनका दोष अवश्य समझा जायगा। ऐसी स्थिति में जब यह जगत् केवल अनियन्त्रित, स्वतन्त्र, जड़ प्रकृति का विकास नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता एवं सब के माता पिता भगवान् के नियन्त्रण में ही है, तब उनको अवश्य ही सृष्टि के जीवों के लिए ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस के उपयुक्त सम्यक् सत्कर्मों या कृतियों का उपदेश करना चाहिए। जितनी अनेक संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, सब का काल और इतिवृत्त है। कोई डेढ़ हजार वर्ष की, कोई दो हजार वर्ष की मानी जाती है। यदि उन्हीं को परमेश्वर-निर्दिष्ट संस्कृति मानें, तो यह सन्देह अवश्य होगा कि उससे पहले के जीवों के उद्धार का ध्यान परमेश्वर ने क्यों नहीं रखा? यह तो विषमता होगी कि डेढ़-दो हजार वर्ष के जीवों के कल्याण का मार्ग बतलाया गया, पुराने लोगों के लिए नहीं। जब सभी संस्कृतियों के पीछे एक धर्मग्रन्थ मानना पड़ता है, जैसे इसलाम संस्कृति के पीछे कुरान, ईसाई संस्कृति के पीछे बाइबिल, तब वैदिक संस्कृति के पीछे वेद को मानना ही चाहिए। जब आधुनिक भी वेद को सब से प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं और उसकी सादिता में कोई प्रमाण और युक्ति नहीं है तथा अनादिता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, तब उसको अनादि एवं अपौरुषेय मानने में क्या आपत्ति है? अतः भगवान् के निःश्वास और विज्ञानभूत, नित्य, निर्दोष वेदों के अनुसार ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस में अनुकूल, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार के सम्यक् सुसंस्कारमवाले सत्कर्म ही 'संस्कृति' हैं। इन्हीं से आत्मा का संस्कार होता है और वह उपद्रवों, अनर्थों से उन्मुक्त होकर स्वस्वरूपभूत परमानन्द-

साम्राज्य-सिंहासन पर समासीन होता है। आर्थिक, नैतिक, व्यावसायिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक आचार-विचार, रहन-सहन वेदादिशास्त्र के अनुकूल या अविरुद्ध होकर संस्कृति के भीतर संगृहीत हो जाता है। ऐसी दशा में वेद और उनके आधार पर निर्मित शास्त्र ही हिन्दूसंस्कृति के आधार समझे जा सकते हैं और उन्हीं से उसके स्वरूप का निर्णय हो सकता है। (सिद्धान्त १ १८)।

वादों का वाद

प्राय. लोग पूछते हैं कि साम्राज्यवाद, साम्यवाद, लोकतन्त्रवाद, अधिनायकवाद आदि वादों में कौन वाद सम्मत है? बात यह है कि हमारे व्यक्तिगत विचारों का कोई भी मूल्य नहीं। संसार में "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की स्थिति है, अनन्त व्यक्तियों के मस्तिष्कों के पृथक् पृथक् विचार होते हैं। उन अव्यवस्थित विचारों से कुछ भी नहीं होता। शास्त्र-प्रमाण की कसौटी पर जो विचार खरे उतरते हैं, वही सच्चे हो सकते हैं, अन्यथा भ्रान्त समझे जाते हैं। अतः शास्त्र का मन्तव्य क्या है ऐसा ही प्रश्न समुचित है। शास्त्र की दृष्टि में धर्मनियन्त्रित राजतन्त्रवाद ही सम्यक् शासनपद्धति है। उसमें अष्ट लोकपालों के अंश से उत्पन्न राजा प्रजा पर शासन करता है और उस पर धर्म का शासन रहता है। धर्म-नियन्त्रित राजतन्त्रवाद का ही दूसरा नाम 'रामराज्य' है। उसमें लोकमत का इतना सम्मान था कि लोकप्रसन्नता के लिए श्रीराम ने अपनी प्राणेश्वरी गर्भिणी जनकनन्दिनी जानकी को भी वन में भेज दिया। सच्चे अर्थ में साम्यवाद का इतना आदर था कि राम ने यज्ञ के व्याज से अपनी सम्पत्तियों का यहाँतक गरीबों में वितरण किया कि जानकी के हाथ में सौभाग्यसूत्र के अतिरिक्त उनके अङ्ग में कोई भी भूषण न रह गया। धर्मनियन्त्रित राजा के लिए राज्य एक तरह का महान् भार प्रतीत होता है और उसके सञ्चालन के लिए महती तपस्या की अपेक्षा पड़ती है। अतपस्वी, अजितेन्द्रिय राजा से इस भार का वहन असम्भव होता है।

धर्मनियन्त्रित राजा को प्रथम अपने आत्मा, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना पड़ता है, फिर निर्लोभ वृत्ति से राज्य का सञ्चालन करना पड़ता है। कितने राजालोग राज्य की सम्पत्ति में से भोजन भी नहीं करते थे, किन्तु अपने निर्वाह के लिए पृथक् परिश्रम करके कुछ द्रव्योपार्जन कर लेते थे। आश्रम के कन्दमूलफलाशी, वल्कलवसनधारी, वनवासी महर्षियों को अत्यन्त निस्पृह देखकर, वे उनको यह सोचकर भूमि दे डालते थे कि ये लोग किञ्चिन्मात्र भी प्रजा की सम्पत्ति को अपने भोग में न लगायेंगे, किन्तु प्रजा की सम्पत्ति प्रजा के ही हित में लगायेंगे। सूर्य जैसे तिग्म रश्मियों से पृथ्वी का जल खींचते हैं, परन्तु अपने सुखभोग के लिए नहीं, अपितु यथाकाल प्रजा को ही प्रदान करने के लिए, वैसे ही धर्मनियन्त्रित नृपति करसङ्ग्रह करके उससे अपना हित नहीं चाहता, अपितु प्रजा के ही हित में अहर्निश तल्लीन रहता है। रामराज्य की प्रजा भी धार्मिक होती थी। धर्मनियन्त्रित राजा का कर्तव्य होता है कि वह उन्मार्ग पर जाती हुई प्रजा को समझा-बुझाकर अथवा दण्ड देकर सन्मार्ग पर चलाये। धार्मिक होने से प्रजा अपनी गाढ़ी कमायी की थोड़ी से थोड़ी सम्पत्ति पर भी सन्तुष्ट रहता है, मुफ्तखोरी के लाभ से घबराती है। पूँजीपति, जमीन्दार, साहूकार अपनी सम्पत्ति को परमेश्वर की सम्पत्ति समझते हैं, धर्म और विद्या के प्रचार में अपने द्रव्य का सदुपयोग करते हैं और गरीबों, दीनों की सहायता में सम्पत्ति लगाने का अवसर ढूँढते रहते हैं। वे अच्छी तरह समझते हैं कि दुराचारी, व्यसनी, मद्यपायी, वेश्यागामी श्रीमान् अपने लाखों साथियों के साथ नरक के भागी होते हैं। ईश्वरभक्ति, सदाचार, न्यायपालन तथा तपस्या से

ऐश्वर्य मिलता है, ऐश्वर्य मिलने पर प्रमादान्ध होकर चलने से नरक मिलता है। अतः ऐश्वर्य प्राप्त करने पर बड़ी सावधानी से धर्मपालन और धर्मप्रचार करना चाहिए, जिससे लाखों को साथ लेकर वैकुण्ठधाम प्राप्त कर सकें। धार्मिक भावनाओं के प्रचार का ही फल होता है कि प्रत्येक गृहस्थ बलि-वैश्वदेव करके सम्पूर्ण भूतों को है, होम से देवताओं को, श्राद्ध से पितरों को तृप्त करता है। वह समझता है कि हम केवल अपने ही लिए नहीं किन्तु सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए जन्मधारी हुए हैं।

धार्मिक भावनावाले अमीर-गरीब सभी अपनी सम्पत्ति दूसरों के हित में लगाना चाहते हैं, स्वयं दूसरों से नहीं लेना चाहते। शास्त्र लेने वाले को लेने से मना करते और देनेवाले को देने का उपदेश देते हैं। देनेवाले ले लेने की प्रार्थना और लेनेवाले लेने से बचने का यत्न करते हैं। इसके विपरीत वर्तमान काल की दशा है—देनेवाले देना नहीं चाहते, लेनेवाले लेना चाहते हैं, किसी को सन्तोष नहीं। धर्मभावनाओं के न्यून होने पर विषयी, अजितेन्द्रिय श्रीमान् विषयों के किङ्कर हो जाते हैं, गरीबों के हिस्से की, धर्म और विद्याप्रचार के हिस्से की भी सम्पत्ति को अपने भाग में लगा देते हैं। अधिक भोगासक्त होने से निर्वीर्य हो जाते हैं, जिस से सन्तानों में कमी या निर्वीर्यता आ जाती है। दत्तक-विधानों से निकृष्ट खानदान के लोग सम्पत्ति के मालिक बनते हैं, उनमें भी काम क्रोधपरायणता की मात्रा अधिक होती है। दरिद्रों की सन्तान बहुत बढ़ जाती है, धनिकों को लाखों खर्च करने पर भी सन्तान नहीं होती। इस तरह ज्यादा से ज्यादा धन मुट्ठीभर मनुष्यों के हाथ में रहता है और

अधिक से अधिक लोग दरिद्र रहते हैं। इधर धनमद से प्रमाद, अत्याचार और कामपरायणता बढ़ती है, उधर दरिद्रता से व्यभिचार, चोरी, डाका आदि दुराचार की वृद्धि होती है। फलतः दोनों ही तरफ सङ्घर्ष बढ़ जाता है। इसी खींचातानी में तरह तरह के आन्दोलन, किसान जमीन्दार, मजदूर-मालिक आदिकों की लड़ाइयाँ बढ़ जाती हैं। जबतक धनिकवर्ग स्वयं सदाचारी नहीं होता, स्वार्थान्धता से मुक्त नहीं होता, तबतक उसके धर्मप्रचार पर भी जनता विश्वास नहीं करती। फलतः एक दिन मारकाट फैलकर साम्यवाद का जन्म होता है, पूँजीपति, मिलमालिक, जमीन्दार, राजा, रईस मारे जाते हैं, धर्माधर्म और ईश्वर भी विषमता के बीज समझे जाकर बहिष्कृत होते हैं, मठों, मन्दिरों, धर्माचार्यों की भी दुर्गति की जाती है, जहाँ तो सका सर्वथा बराबरी का प्रयत्न किया जाता है, काम, दाम, आराम की बराबरी का प्रयत्न होता है। परन्तु यह अस्वाभाविक बात है। सब की स्थिति समान नहीं होती, कोई अधिक काम करने की ताकत रखता है, कोई नहीं, कोई अधिक बुद्धिमान् होता है कोई नहीं, कोई दो मन बोझा उठा सकता है, कोई पाँच सेर भी नहीं उठा सकता, कोई दस मिनट में दस हजार का काम करता है, कोई दिनभर में भी दो आना ही कमाता है। न्यायाध्यक्ष और चपरासी, इञ्जीनियर और ईंट ढोनेवाले मजदूर की समान हैसियत नहीं हो सकती, दोनों की समान खुराक भी नहीं हो सकती। यदि इन सब के दाम में बराबरी कर दी जाय, तो अधिक बुद्धिमान्, अधिक बलवान् और काम करने की क्षमता पैदा करने का कोई भी प्रयत्न ही न करेगा। अतः अन्त में मात्स्यन्याय फैलने पर युद्धादि-कार्य्यसञ्चालन के लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति

की अपेक्षा होती है। इसीलिए अन्त में चुनाव करके एक को राष्ट्रपति बना लिया जाता है। चुनावों की प्रथा कुछ दिन तक चलती रहती है। इसमें भी जब दलबन्दियां चलती हैं, अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, व्याख्याताओं के प्रचारों से जब अयोग्य व्यक्ति जनप्रतिनिधि बनाये जाते हैं और पक्ष-विपक्ष बनकर प्रजा में उपद्रव मचने लगते हैं, तब किसी योग्य पुरुष को पूर्णाधिकार देकर अधिनायक बना दिया जाता है। प्रायः वह सम्राट् बन बैठता है और शक्ति अनियन्त्रित होने के कारण अत्याचार में प्रवृत्त हो जाता है। तब उसको फिर सिंहासनच्युत करके शक्ति कई लोगों में बाटने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस तरह इतिहास अपने आप को बार बार दुहराया करता है। यदि धर्मनियन्त्रित हुआ, तब तो ठीक हो है, अन्यथा उच्छृङ्खल साम्राज्यवाद या अधिनायकवाद बिना ड्राइवर की मशीन के समान अत्यन्त भयानक होता है। अतः हर समय धार्मिक भावनाओं का प्रचार परमावश्यक है, उसके बिना सुख-शान्ति नहीं होती, अतएव धर्मनियन्त्रित राजा का परम कर्तव्य है कि वह धर्मसंस्थापन में पूर्णरूप से प्रयत्नशील हो। जो अन्याय से राष्ट्र को पीड़ित करके कोशवर्धन करता है, वह राजा शीघ्र ही गतश्री होकर सपरिवार नष्ट हो जाता है—

> 'अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत्।
> सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः॥"

प्रजापीड़न-सन्ताप से उत्पन्न अग्नि राजा के कुल, श्री और प्राणों को बिना दग्ध किये निवृत्त नहीं होता—

"प्रजापीडनसन्तापात्समुद्‌भूतो हुताशनः ।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा न निवर्त्तते ॥"

न्यायतः अपने राष्ट्र के पालन करने में राजा को जो पुण्य प्राप्त होता है, वशीभूत दूसरे राष्ट्र के पालन में भी उसको वैसा ही पुण्य प्राप्त होता है—

"य एव नृपतेर्धर्मः स्वराज्यपरिपालने ।
तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन् ।"

जिस देश में जो आचार और व्यवहार तथा जैसी कुलमर्य्यादा हो, उनका उसी तरह पालन करना चाहिये, अपने आचार के साथ साङ्कर्य्य सम्पादन का प्रयत्न कभी भी न करना चाहिए—

"यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥" (याज्ञ०) ।

एतावता यह सिद्ध होता है कि राजा को किसी के धार्मिक आचार विचारों पर हस्तक्षेप न करना चाहिए। जो आरोप किया जाता है कि आर्य्यों ने दूसरे दलों को पराजित करके उन्हें जङ्गलों में निकालकर अस्पृश्य बना दिया, उनकी सभ्यता को नष्ट कर दिया, ये धारणाएँ सर्वथा गलत हैं। राम ने लङ्का जीतकर विभीषण को दे दी, बाली को जीतकर किष्किन्धा सुग्रीव को दे दी, कृष्ण ने कंस को जीतकर मथुरा उग्रसेन को दे दी, जरासन्ध को जीतकर राज्य सहदेव को दे दिया। अनेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे कि आर्य्य राजाओं ने अन्यायी राजा को जीतकर उसके उत्तराधिकारी को ही राज्य दे दिया। एतावता जो कहते हैं कि आर्य्यों ने बहुत जातियों को अपने में पचा डाला, यह भी असङ्गत

है, क्योंकि आर्यों को सर्वदा साङ्कर्य्य से घृणा रही। वे जैसे अपने धर्म की रक्षा में तत्पर रहते थे, वैसे ही अन्य राष्ट्र के धर्मपालन में भी सावधान रहते थे।

धर्मनियन्त्रित राजा ब्राह्मणों के प्रति क्षमावान्, स्निग्ध, मित्रों में अजिह्म, अवक्र रहता है, शत्रुओं में क्रोधन, भृत्यों और प्रजाओं के प्रति हिताचरण और अहित-निवर्तन में पिता के समान दयावान् रहता है—

"ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता॥"

यदि राजा न्याय से प्रजा का परिपालन करता है, तो प्रजा के पुण्य से षष्ठांश राजा को प्राप्त होता है। इसीलिए राजा के लिए सम्पूर्ण दानों से अधिक प्रजापालन ही है—

"पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम्॥"

प्रतारकों, तस्करों, ऐन्द्रजालिक, कितवादि दुर्वृत्तों, बलात् धनापहरण करनेवाले महासाहसिक आदिकों से विशेषतः लेखक, गणकादि से पीड्यमान प्रजा का रक्षण परमावश्यक है—

"चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः॥"

राजा से अरक्षित होकर प्रजा जो भी किल्विष करती है, उसमें से आधा पाप राजा को मिलता है, क्योंकि वह प्रजा से कर ग्रहण करता है—

"अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किल्विषं प्रजाः।
तस्मात् नृपतेरर्धं यस्माद्गृह्णात्यसौ करान्॥"

अतः कर्मचारियों की गतिविधियों को गुप्तचरों से समझकर अच्छे लोगों का सम्मान और बुरे लोगों को दण्ड देना चाहिए, उत्कोच (घूस) लेनेवालों को सर्वथा धनहीन करके निकाल देना चाहिए, दान, मान, सत्कार के साथ श्रोत्रियों को अपने देश में टिकाना चाहिये—

"ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम्।
साधून् सम्मानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत्॥
उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत्।
सद्दानमानसत्कारात् श्रोत्रियान् वासयेत्सदा॥"

धर्मनियन्त्रित राजा को सर्वदा महान् उत्साहवाला, बहुदयार्थदर्शी, कृतज्ञ तथा वृद्धों का सेवक होना चाहिए, विनीत तथा हर्ष विषाद से रहित होना चाहिए, कुलीन, सत्यवाक् एवं पवित्र होना चाहिए, अदीर्घसूत्र, स्मृतिमान्, उदार, परदोष का कीर्तन करनेवाला, धार्मिक (वर्णाश्रमधर्म का आदर करनेवाला) होना चाहिए, निर्व्यसन भी होना चाहिए। मृगया, द्यूत, दिवास्वप्न, परिवाद, स्त्रियां, मद्यपान, नृत्य, वादित्र, गीत और वृथाभ्रमण ये दश कामज व्यसन होते हैं। पैशुन्य (अविशात दोषाविष्करण), साहस (सत्पुरुषों का वध, बन्धनादि), द्रोह (छद्मवध), ईर्ष्या (अन्यगुणासहिष्णुता), असूया (परगुणों में दोषाविष्करण), अर्थदूषण (अर्थापहरण और देय का अदान), वाक्पारुष्य (कटुवाद), दण्डपारुष्य (ताडनादि) ये आठ क्रोधज व्यसन हैं। कामज व्यसनों में पान, द्यूत, स्त्री और मृगया ये चार एवं

क्रोधज में दण्डपातन, वाक्पारुष्य, अर्थदूषण, क्रमेण ये कष्टतम व्यसन हैं। इन व्यसनों से रहित होकर प्राज्ञ, निर्भय, रहस्यवित्, रणगीता, अध्यात्म-विद्या, अर्थ, योगक्षेमोपयोगिनी दण्डनीति में, धनोपचय-निमित्त कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, पशुपालनरूप वार्ता में, साथ ही त्रयी अर्थात् ऋक्-यजुरादि वेदविद्या में दक्ष होना चाहिए। मनु कहते हैं—

"त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकींचात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः॥"

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि आधुनिक वादों के वादों में पड़ना व्यर्थ है, उन का कोई स्थायी आधार नहीं, उनसे केवल संघर्ष ही बढ़ेगा, कभी भी शान्ति और परस्पर प्रेम स्थापित न होगा। इसलिए अपने शास्त्रों द्वारा बताये हुए मार्ग पर ही चलना चाहिए। इसी से अपने देश और साथ ही सारे विश्व का कल्याण होगा। (सिद्धान्त ६।२६)।

दरिद्रता का रहस्य

कुछ लोगों के प्रश्न हुआ करते हैं कि क्या कारण है कि धर्मात्मा, ईश्वरभक्त और ज्ञानी होते हुए भी भारत परतन्त्र, दरिद्र और दुःखी है। अन्यान्य देश अधिक मात्रा में ईश्वर और धर्म से विमुख होने पर भी स्वतन्त्र, शान्त एवं सुखी हैं। क्या धर्मात्माओं के सदा दु:खी और परतन्त्र रहने का भी कोई सिद्धान्त है? उनके इन प्रश्नों पर विचार करते हुए पहले यह देखना चाहिए कि क्या वास्तव में धर्म और ईश्वर से विमुख देश शान्त एवं सुखी हैं या हमको ही उनके सुख का केवल भ्रम है। यह ठीक है कि कुछ लोगों ने वैज्ञानिक आविष्कार के चमत्कारों से संसार को चकित कर दिया है और कुछ लोग धनधान्यादि भोग सामग्रियों से सम्पन्न दिखाई देते हैं। रेल, तार, बिजली, रेडियो, हवाई जहाज तथा अन्यान्य सुख सामग्री सम्पन्न गगनचुम्बिनी अट्टालिकाओं से कुछ लोग स्वर्गीय ही जान पड़ते हैं। परन्तु इतने से ही सारे देश के सुख की कल्पना नहीं होती। इसके अतिरिक्त धन तथा सुख सामग्रियों से सम्पन्न लोग भी शान्त और सुखी नहीं होते। वे दूसरों की दृष्टि में देवदुर्लभ सुख अवश्य भोगते हैं, परन्तु जितने वे तप्त और दुःखी होते हैं, उसका ज्ञान उन्हें या उनके सहवासियों को ही है। फिर भी कहीं भूकम्प, कहीं ज्वालामुखी विस्फोट, कहीं समुद्र का प्रकट हो जाना आदि अनेक भयावह उपद्रव होते हैं, जिनमें बड़ी से बड़ी सम्पत्तियां, भवन एवं यन्त्र आदि नष्ट हो जाते हैं। अधिक क्या, ईश्वर और धर्म की परवाह न करके निज

बुद्धि-वैभव के मद में उन्मदान्ध होकर जो नानाप्रकार के उत्पादक-संहारक यन्त्र, मशीन, कलपुर्जे तैयार किये जाते हैं, वे ही उनके संहार के कारण बन जाते हैं। कहना न होगा कि वही संहारलीला, उनकी सभ्यता और स्वतन्त्रता (उच्छृङ्खलता) के रूप में आज भो दृष्टिगोचर हो रही है।

कितने ही अभिज्ञ पाश्चात्य भारत की प्राचीन सभ्यता-संस्कृति के भक्त दिखाई देते हैं। कितने ही दरिद्र कहे जानेवाले देश के जल, वायु, सूर्य्य, चन्द्र, ताराओं के निर्दोष निरावरण दर्शन से मुदित होते हैं। अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए कितने भारत में वास करते हैं और आज भी विश्व को सुख-शान्ति का आलोक प्रदर्शन करने में भारत को समर्थ मानते हैं। इसकी सभ्यता-संस्कृति को ही विश्व की शान्ति का मूल मानते हैं। यह ठीक है कि अतिपरिचय से अवज्ञा होती है, तभी यहाँ के लोग स्वास्थ्यसुधार या आत्मसुधार के लिए विदेश जाते हैं। वस्तुतः केवल भौतिक उन्नति ही उन्नति नहीं है। सौख्यसाधन-सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है। यह भी मान्य है कि आनन्द और उसकी अनेक सामग्रियाँ सत्कर्मों के ही फल हैं। जहाँ भी जो भी कोई प्रसन्न, शान्त एवं समुन्नत हैं, वे अवश्य ही जन्मान्तर के सुकृती हैं। इस जन्म के प्रयत्न भी सुखसम्पादन के कारण बनते हैं। परन्तु वे गौण और सहकारी मात्र हैं। मुख्य रूप से वर्तमान जाति, आयु, भोग के निदान तो प्राक्तन प्रारब्ध कर्म ही हैं। नवीन प्रयत्न तो सहकारीमात्र होते हैं। अतः धर्म के परिणाम में ही सब प्रकार के अभ्युदय हुआ करते हैं। कोई वर्तमान काल में धर्मबहिर्मुख हैं, इससे पहले भी ऐसा ही रहा हो, यह नहीं

कहा जा सकता। वस्तुस्थिति ऐसी है कि प्राणी धर्म, तपस्या एवं भगवदाराधन से ही अभ्युदय प्राप्त करता है। परन्तु अभ्युदय प्राप्त कर लेने पर सावधानी से सन्मार्ग पर चलना बड़े भाग्य की बात है। प्रायः ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त होकर प्राणी धर्म का उल्लङ्घन करके उन्मार्गगामी हो जाते हैं। उस समय साधारण लोग उनकी उच्छृङ्खलता और ऐश्वर्य्य देखकर भ्रान्त हो उठते हैं कि उच्छृङ्खलता ही ऐश्वर्य्य का मूल है। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि जैसे कार्तिक में बोये हुए यव या गेहूँ आदि के बीज ही चैत्र में फल देते हैं। चैत्र में बोये हुए बीज उस समय फल नहीं दे सकते, अर्थात् बीज के समकाल ही फल नहीं होता, वैसे ही कालान्तर के ही कर्म वर्तमान में फल देते हैं। वर्तमान के कर्म भविष्य में फल देंगे। अतः वर्तमान का धर्मात्मा भी जन्मान्तर के दुष्कर्मों के कारण दुःखी और विपन्न हो सकता है और वर्तमान का धर्मविरोधी उच्छृङ्खल भी जमान्तर के पुण्यप्रभाव से सुखी और उन्नत हो सकता है। स्वभाव से दुःखी, दरिद्र एवं अशान्त प्राणी को अपने आप को पहचानने का अवसर मिलता है। धर्म और ईश्वर की आवश्यकता भी उसी को प्रतीत होती है।

"असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम्।
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥"

अर्थात् श्रीमद से अन्धा हुआ प्राणी अनेक अनर्थ कर सकता है। 'तप से राज्य, राज्य से नरक' यह भारत की कहावत प्रसिद्ध ही है। उस अन्धता निवृत्ति के लिए दरिद्रता ही एक सुन्दर अञ्जन है। जिसके पैर में कभी कण्टक लगा होता है वही उस व्यथा को जानता है। दुःखी

और दरिद्र ही दूसरों के दुःखों को पहचान सकता है। अपने समान ही दूसरों के दुःख-दुःखों को जानना यह भी एक बड़ा योग है। इस तरह प्राक्तन सत्कर्मों के प्रभाव से ऐश्वर्य्य प्राप्त हुआ और उसके मद का सँभाल न किया गया, तो उच्छृङ्खलता के कारण अग्रिम पतन अनिवार्य्य है। प्राक्तन दुष्कृत के परिणामस्वरूप दरिद्रता एवं विपत्ति में आत्मोद्धार के अनुकूल उत्थान होना भी स्वाभाविक ही है। दुःख या दरिद्रता पापों के दण्डरूप में मिलती है। दण्ड के बाद शुद्धि और सद्भावना का सञ्चार होना चाहिए। यदि सौभाग्यवश विचार और वैराग्य का योग मिल जाता है, तो फिर दरिद्रता और विपत्तियाँ बड़ी ही आदरणीय हो जाती हैं। श्रीकुन्ती ने तो भगवान् से विपत्तियों का ही वरदान माँगा है—

"विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्"॥

हे भगवन्! मुझे तो विपत्तियाँ ही बार बार मिलें, क्योंकि विपत्तियों में आप कृपा करके दर्शन देते हैं। जिस ऐश्वर्य्य के मद में आप का विस्मरण हो, उस ऐश्वर्य्य से तो वह विपत्तियाँ ही श्रेष्ठ हैं, जिनमें प्रतिक्षण भगवान् का दर्शन और स्मरण होता रहे। किसी ने एक सम्राट् से कहा है—

"वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वञ्च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः"

अर्थात् हे राजन्! आप अपनी राज्यलक्ष्मी से तुष्ट हैं, हम अपने वल्कलों से संतुष्ट हैं। परितोष की दोनों ओर बराबरी होने पर भी निर्विशेष (ब्रह्म) हमारे पक्ष में विशेष है। भारत में वह अद्भुत अध्यात्मविद्या

थी कि जिसके लिए बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् साम्राज्य त्यागकर वनों में तपस्या करने जाते थे, जहाँ "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" समझे जाते थे। उस समय साम्राज्यश्री तो क्या त्रैलोक्यश्री भी भारतीय विद्वानों के चरण्य में लोटती थी। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि पूर्व जन्म के पापी एवं इस जन्म के दरिद्र ही धार्मिक एवं भक्त होते हैं या अपना कर्म ठीककर दरिद्रता दूर करने का प्रयत्न ही न करना चाहिए। कहना इतना ही है कि कहीं विचारयुक्त दरिद्रता महापुण्यों का फल भी है। इसीलिए गीता में भ्रष्टों की दो गति कही गयी है। उनमें एक तो यह कि पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म पाना और दूसरी योगियों, वीतराग, दरिद्र ब्राह्मणों के घर जन्म होना। उसमें द्वितीय पक्ष को अतिदुर्लभ कहा गया है—

"एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।"

विचारविहीन दरिद्रता अवश्य शोचनीय है। विचार-विवेकयुक्त ऐश्वर्य भी प्राणियों के लिए आत्मकल्याण में अनुकूल हो सकता है। मनु, प्रियव्रत, इक्ष्वाकु प्रभृति महान् ऐश्वर्यशाली लोग परमविवेकी और आस्तिक थे। वे भी कुछ कम कोटि के नहीं थे, परन्तु महत्ता में ऐश्वर्य उतना कारण नहीं समझा जाता जितना कि विवेक-विचार। विवेक, विचार एवं अभ्युदयानानुकूल प्रयत्न के बिना केवल भोगसामग्री महत्त्व का मूल नहीं होती। पाश्चात्य राजाओं के कुत्तों को जितना सुखभोग प्राप्त होता है, उतना बड़े धनीमानियों को भी दुर्लभ है। विचित्र ढङ्ग के उपचार के लिए कितने ही भृत्य नियुक्त होते हैं। वह कुत्ता भी पूर्व जन्म का कुछ कम पुण्यात्मा नहीं है, क्योंकि सुखमात्र पुण्यों का ही फल है। उस कुत्ते के ऐहिक पुरुषार्थ की तो कल्पना भी

नहीं हो सकती। देश, काल, पात्र आदि का विवेचन बिना किये धर्म का फल तो होता है, परन्तु कहीं श्वान बनकर या श्वान के समान ही-अविवेकी मनुष्य बनकर सुखमात्र भोगा जा सकता है। परन्तु भविष्य सर्वथा अन्धकारमय ही होता है! अभिश वर्तमान सुखों पर ही ध्यान न देकर परिणाम में हितकारी साधारण सुखों का ही आदर करते हैं। पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन पर विवेकियों को उतना आह्लाद नहीं होता, जितना द्वितीया के चन्द्रदर्शन में, क्योंकि पूर्णिमा के चन्द्रमा की उन्नति हो चुकी, अब वह अवनति की ओर जायगा, पर द्वितीया का चन्द्रमा यद्यपि स्वल्प है, तथापि वह उन्नति की ओर अग्रसर होनेवाला है। वर्तमान जीवन कुछ कष्टमय भी क्यों न हो परन्तु यदि उससे भविष्य कल्याणमय बनाया जा रहा हो, तो हर्षोल्लास का ठिकाना नहीं।

इसके सिवा कुछ यह बात भी है कि कुशिक्षा और कुसंसर्ग के कारण भारतीय लोग अपने शास्त्रोक्त कर्तव्य तथा अधिकार को भूल गये। उसी के दुष्परिणामरूप में भारत का यह पतन हुआ है। उसी के कारण नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक पतन भी काफी हो चुका। अधिकार-निर्णय के लिए अपनी संस्कृति, सभ्यता, साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा होती है। दुर्भाग्यवश भारत आज उससे भी वञ्चित हो गया है। अपने शास्त्र और साहित्य के सेवियों में भी क्रियाशील विवेक की कमी हो गयी है। शास्त्रों के अनुसार अधिकार समझने पर प्रवृत्ति निवृत्ति दोनों ही सफल हो सकते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक दोनों ही प्रकार की उन्नतियाँ सम्पन्न हो जाती हैं। परन्तु बिना अवसर और अधिकार के प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही पतन के मूल होते हैं।

भारत के वर्तमान लोगों में अनधिकार चेष्टाएँ बहुत बढ़ गयी हैं। निवृत्तिमार्ग के लोगों को प्रवृत्ति रुचती है और प्रवृत्तिमार्ग के लोगों को निवृत्ति। प्रथम के विवेकी लोग अनवसर के वैराग्य और निवृत्ति को बड़े विवेक से हटाते थे। अर्जुन के वैराग्य और निवृत्ति की आकांक्षा को श्रीकृष्ण ने कितनी चतुरता से निवृत्त किया था। कुमति रहना, प्रवृत्ति में हर समय विचार निवृत्ति का रहना, यह अवश्य ही कार्य्य में बाधक होता है। अनवसर का वैराग्य और अनुत्साह ही भारत के पतन का मूल है। शास्त्रों के अभ्यास से अधिकार-निर्णयसहित उत्साह से प्रवृत्ति निवृत्ति का सेवन करने से ही आध्यात्मिक, आधिभौतिक सब प्रकार की उन्नति होती है। (सिद्धान्त २।१२)।

शास्त्रों में स्त्रियों की निन्दा

स्त्रियाँ केवल भोगसामग्री या बच्चा पैदा करने का यन्त्र ही नहीं, अपितु, वे प्रत्यक्ष लक्ष्मी हैं। उनके शरीर की विशेषता से वेद-शास्त्र, पुराणों के अमित पृष्ठ रञ्जित हैं। पुरुष के चरित्रभ्रष्ट होने पर वही उस दुष्परिणाम का भोक्ता होता है, स्त्री के चरित्रभ्रष्ट होने से मातृ तथा पितृकुल दोनों ही कलङ्कित और अपमानित होते हैं। स्त्रियाँ सदाचारिणी एवं पतिव्रता रहकर पतिकुल तथा पितृकुल दोनों का कल्याण कर सकती हैं। सती नारी साक्षात् गङ्गा किंवा उमामहेश्वरस्वरूप मानी गयी है—

"न गङ्गया तया भेदो या नारी पतिदेवता।
उमामहेश्वरः साक्षात् तस्मात्तां पूजयेद्बुधः॥"

"स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्।"

इत्यादि भावनाओं के सामने क्षुद्र विषयेन्द्रिय-सम्प्रयोगज सुखों का कितना मूल्य रह जाता है? स्त्रियों के इन्हीं उदात्त भावों के रक्षार्थ धर्मशास्त्रों के कठोर नियम हैं। तथापि तर्क की दृष्टि से कहा जा सकता है कि ये ही नियम पुरुषों के लिए भी उचित होने चाहिएं, तथापि धर्मशास्त्रों ने शरीर, इन्द्रिय, स्वभाव शक्ति, प्रकृति की विलक्षणता को देखते हुए इनके रहन सहन, कर्तव्यों आदि में भेद रखा है। जैसे सब रोगों के लिए समान औषधों का प्रयोग नहीं हो सकता, वैसे ही हरएक अधिकारी के लिए समान कर्म भी नहीं हो सकते। स्पष्ट है कि स्त्री

साल में एक ही गर्भ धारण कर सकती है, परन्तु पुरुष तो कई गर्भाधान कर सकता है। पुरुष के लिए यज्ञ, तप, दान, त्याग की विशेषता है। अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म बिना दारपरिग्रह के नहीं हो सकते। पुरुष का विधुर जीवन निषिद्ध है। अतः वैदिक कर्म-कल्याण प्रचलित रहने के लिए पुरुष का पुनर्विवाह सङ्गत है। परन्तु स्त्री की तो पतिसहगमन या वैधव्यधर्मपालन से ही परमसद्गति सम्भव है।

अतएव पति के अभाव में उसका प्रवृत्तिमार्ग निरुद्ध हो जाता है। कहा जाता है कि पुरुषों ने द्वेषवश स्त्रियों पर अत्याचार किया है। जहाँ-तहाँ शास्त्रों में भी स्त्रियों की बहुत निन्दा की गयी है, परन्तु ऐसा कहनेवाले स्त्रियों की प्रशंसाओं की बातों को भूल जाते हैं। हिन्दू-शास्त्रों में जैसा माता का सम्मान मिलेगा, वैसा कहीं भी नहीं मिल सकता। पिता से भी दशगुणित अधिक माता का गौरव माना गया है—

"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।"

सीता, सावित्री, अरुन्धती, अनुसूया, कौशल्या, सुमित्रा प्रभृति सतियों का जितना आदर और सम्मान शास्त्रों में है, उसे देखते हुए किसे कहने का साहस हो सकता है कि यहाँ स्त्रियों का अनादर है? मनु भगवान् स्पष्ट लिखते हैं कि "स्त्रियाँ साक्षात् लक्ष्मी हैं। उनकी पूजा जहाँ होती है, वहाँ सब प्रकार की समृद्धि होती है, जहाँ इनका अपमान होता है, वहाँ सब प्रकार की विपत्ति आती है।" प्रमादियों द्वारा उनका अपमान भी अवश्य होता है, परन्तु इतने से शास्त्रों और तन्निष्ठों पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। शास्त्रों में जो स्त्रियों के दोषों का प्रसङ्ग है, वह कुछ स्थलों में वैसे स्वभाववालियों का स्वभावानुवाद और कुछ स्थलों में वैराग्य के

लिए दोष दर्शनमात्र है। दोष वहीं ही दिखलाया जाता है जहाँ स्वाभाविक राग होता है। स्त्रियों में पुरुषों का राग स्वाभाविक है। बड़े बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी सदा स्त्रियों में दोषदर्शन करते रहते हैं, उन्हें भी इस राग के वश हो जाना पड़ता है। फिर जब दोष वर्णन और दर्शन करते हुए भी लोगों को रागवश होना पड़ता है, तो फिर गुणानुसन्धान में तो कहना ही क्या! यह तो स्वभाव से ही होता है, क्योंकि वस्तुसौष्ठवबुद्धि के बिना तो राग होता ही नहीं। अनुचित राग से बचने के लिए जैसे पुरुष स्त्रियों में दोषानुसन्धान करते हैं, वैसे स्त्रियों को भी पुरुष में दोषानुसन्धान करना चाहिए। परस्त्री या परपुरुष में राग सर्वथा ही पतन का मूल है। उससे बचने के लिए दोषानुसन्धान युक्त ही है। यह बात दूसरी है कि जब निखिल विश्व में भगवद्बुद्धि या भगवती की भावना हो जाय, तब इसकी आवश्यकता ही नहीं रहती। स्त्रियाँ स्वभाव से ही लज्जाशील होती हैं। उनमें अपनी ओर से चञ्चलता कम होती है, उसकी अधिकता तो पुरुषों में ही होती है, अतः उन्हें ही अधिक दोषदर्शन की अपेक्षा होती है।

इसके अतिरिक्त स्त्री का निज पति में राग से ही कल्याण हो जाता है। परन्तु पुरुष का पत्नी के ही राग से कल्याण नहीं होता। अतः भगवान् में राग के लिए लौकिक राग मिटाना पुरुषों के लिए बहुत आवश्यक होता है। जैसे शिष्य का या विश्व का किसी भगवत्परायण में प्रेम होना कल्याणप्रद ही है, परन्तु वैसे ही भगवत्परायण की शिष्य या विश्व में आसक्ति कल्याणप्रद नहीं कही जा सकती। भगवान् से विमुख विश्व के पीछे भागना यह '३३' की स्थिति दोनों ही के लिए भयावनी है। इसकी

अपेक्षा '३६' की स्थिति अच्छी है। विश्व अपने प्रपञ्च में रहे और भगवत्परायण विश्व की उपेक्षा करके भगवान् की ओर प्रवृत्त हो। इसके अतिरिक्त '६३' की स्थिति है, जिसमें संसार महात्मा की ओर और महात्मा संसार की ओर, परन्तु इससे भी कोई लाभ नहीं। सब से ठीक स्थिति तो '६६' की है अर्थात् महात्मा भगवत्परायण हो और संसार उसका अनुगमन करे, तब दोनों ही कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। यही स्थिति इधर भी है, पत्नी पतिपरायण हो और पति भगवत्परायण हो, तो दोनों ही की दिव्य गति हो सकती है। इसलिए वैराग्यार्थ स्वाभाविक राग को कुछ शिथिल करने के लिए जैसे अन्यान्य विषयों में दोषदर्शन है, वैसे ही स्त्रियों में भी दोषों का प्रदर्शन कराया गया है। यह दोष भी प्रधान रूप से परस्त्रियों में प्रीतिवारणार्थ और असत्स्वभावशाली स्त्रियों का स्वभावकीर्त्तन है। साध्वी सती स्त्रियों को तो साक्षात् लक्ष्मी कहकर उनकी प्रशंसा ही विभिन्न स्थलों में की गयी है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष सभी की स्वधर्मपालन से प्रशंसा और विधर्मस्थ होने से निन्दा होती है।

जैसे कामधेनु के रहने पर दुग्ध की चिन्ता नहीं होती, वैसे ही धर्म में प्रीति रहने पर किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। जैसे जल का नीचे की ओर बहने का ही स्वभाव होता है, वैसे ही भगवत्परायण की ओर सब का हृदय झुक ही जाता है। दाम्भिक भी छल-छद्म से बहुतेरों के श्रद्धाभाजन बन जाते हैं। परन्तु अन्त में उनका दम्भ अवश्य खुल जाता है। परिपूर्ण पुरुषोत्तम के सर्वत्र सर्वस्वरूप से दर्शन की कमी में किसी से द्वेष हो सकता है। निरपराध प्राणी को भी लोगों से निन्दा करने पर अपने को निर्दोष समझकर क्षुब्ध न होना चाहिए, क्योंकि सब में वही

दोष तो यही है कि अद्यतक संसारबन्धन से मुक्त होकर भगवत्पद को प्राप्त नहीं किया। भगवान् और धर्म से विमुख रहने पर अपना काम तो बिगड़ता ही है, संसार घृणा और निन्दा ऊपर से करता है। स्वधर्मपालन एवं भगवदाराधन से प्राणी आत्मकल्याण के साथ-साथ संसार की पूजा और प्रशंसा का भी पात्र हो जाता है। छद्म से भी की गयी भगवान् की भक्ति प्राणियों को अनन्त सुख देती है। परवञ्चना के लिए भी धारण किये गये अङ्गराग से वेश्या को सुख ही मिलता है। धर्मशील के पास बिना बुलाये ही समस्त सुख सम्पत्तियाँ पहुँचती हैं। समस्त सरिता सागर के पास पहुँचती हैं, यद्यपि उसे उनकी कामना नहीं है। इसी तरह समस्त सुख सम्पत्तियाँ धर्मनिष्ठ के पास पहुँचती हैं, यद्यपि उसे किन्हीं की भी अपेक्षा नहीं है। पारमार्थिक सिद्धान्त यही है कि जो स्वधर्मनिष्ठ है, वही वन्दनीय एवं आदरणीय है। स्वधर्मबहिर्मुख पुरुष नरकगामी हो सकते हैं। स्वधर्मनिष्ठ नारी ऐहिक, पारलौकिक अनेक प्रकार की सुखभागिनी होती हुई परमनिःश्रेयस को प्राप्त कर लेती है और लोक में भी पार्वती के समान वन्दनीय होती है। (सिद्धान्त ११८)।

एक अध्यापिका ने प्रश्न किया था कि 'भगवान् शङ्कराचार्यजी ने "द्वारं किमेकं नरकस्य नारी" इत्यादि वचनों से स्त्री को नरक का द्वार आदि बतलाकर स्त्रीजाति की निन्दा क्यों की है? क्या स्त्री के लिए पुरुष को नरक का द्वार नहीं कहा जा सकता?' इसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्त्री के लिए परपुरुष अवश्य नरक का द्वार है, तथापि अपना पति नरक का द्वार न होकर प्रत्यक्ष स्वर्ग का ही द्वार है। पति भक्ति से, पातिव्रत धर्म के पालन से, स्त्री अपना और अपने मातृकुल,

पितृकुल एवं पतिकुल का भी कल्याण कर सकती है। दुराचारी पति का भी स्त्री कल्याण कर सकती है, परन्तु पति दुराचारिणी पत्नी का कल्याण नहीं कर सकता।

वस्तुतः निन्दा का तात्पर्य वैराग्य उत्पन्न करने में ही है। श्रीशङ्कराचार्य ने ही क्या, सभी शास्त्रों ने स्त्रियों में दोषदर्शन के लिए उन की निन्दा की है। विवेकियों को भी स्त्री आदि विषयों में व्यामोह हो जाता है, जिस से कल्याण का मार्ग रुक जाता है। जैसे शिष्य का गुरुभक्ति से कल्याण होता है, वैसे ही गुरु के लिए शिष्यभक्ति अपेक्षित नहीं, उसे तो भगवद्भक्ति की ही अपेक्षा होती है। वैसे ही स्त्री का पति भक्ति से ही कल्याण हो जाता है, परन्तु पति का पत्नीभक्ति से कल्याण नहीं, उसे भगवद्भक्ति करनी होगी। हां, इस से स्त्रीजाति की निन्दा नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि स्त्रीजाति में ही माता भी होती है। माता की भक्ति से परमकल्याण होता है। माता साक्षात् अनन्तकोटिब्रह्माण्डजननी भगवती का ही स्वरूप है। उसकी आराधना से अनायास ही प्राणियों के हाथ कल्याण आ जाता है। साधारण रूप से बलवान् इन्द्रियग्राम मातृबुद्धि न होने देकर निकृष्ट बुद्धि ही उत्पन्न करता है, इसीलिए युवतियों के सङ्ग को शास्त्रों ने मना किया है।

कल्याण चाहनेवाली स्त्री को भी अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुषों के दर्शन, स्पर्शनादि सङ्ग से अत्यन्त बचना चाहिए। पुरुष को स्त्रियों के विषय में जो दोष कहे गये हैं, उन सभी दोषों को स्त्री को अन्य पुरुषों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अभियोक्ता पुरुष के ही अपराध

ञ स्त्री अपराधिनी बनती है, स्वतन्त्र रूप से स्त्री की अनाचार में प्रवृत्ति कदापि नहीं होती। अतएव एक वेदमन्त्र में कोई राजा कहता है कि मेरे राज्य में स्वैरी नहीं, तो स्वैरिणी कहाँ से हो सकती है!—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न नास्तिकः।···
न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥"

गुणमयी दैवी माया के दुरत्यय प्रभाव से साधारण ज्ञानी भी विषयों के संसर्ग से मोहित हो जाते हैं। वाताम्बुपर्णाशी (वायु, जल, पत्ते खानेवाले) विश्वामित्र, पराशर प्रभृति मुनिगण भी स्त्री आदि विषयों के सौन्दर्य में जब मोहित हो सकते हैं, तब फिर साधारण दुग्ध, दधि, घृत, ओदनादि खानेवाले प्राणी मोहित हों, इसमें क्या आश्चर्य है! विषयों की अपवित्रता, क्षणभङ्गुरता, अस्थि मांस-चर्ममय पञ्जरस्वरूपता आदि समझते हुए भी माया जवनिका से दोषों का आवरण हो जाता है। चमकीली चमड़ी से आवृत हो जाने के कारण सम्पूर्ण दोष छिप से जाते हैं। कोमलाङ्गी चमकीली सर्पिणी के स्पर्श के समान चमकीली कोमलाङ्गी कामिनी का स्पर्श खतरे से खाली नहीं है। ऐसे भाव भी अपरिपक्व मन पर असर नहीं कर सकते, इसीलिए तपस्या, भगवद्भक्ति, दोषदर्शन-सहित संसर्गत्याग होने पर भी प्राणी में अन्तर्मुखता रह सकती है, अन्यथा नहीं। इन सब भावों को समझकर ही उर्वशी के विरह से खिन्न होकर सम्राट् ऐल ने कहा था—'अहो! मेरे मोह का कितना विस्तार हुआ! उर्वशी में आसक्त हुए मेरे कितने आयु के भाग बीत गये! मैं ने अनेकों वर्षसमूह तक सूर्य्य का उदय और अस्त भी नहीं जाना, मैं ने चक्रवर्त्ती नरेन्द्र होकर भी अपने को स्त्रियों का क्रीड़ामृग बना डाला।

उस की विद्या, तपस्या त्याग, श्रुत, एकान्तवास, मौन सब व्यर्थ है, जिस का मन स्त्री द्वारा अपहृत हुआ है—

'किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥"

मुझ स्वार्थवञ्चित पण्डितमानी मूर्ख को धिक्कार है, जो समर्थ होकर भी गो-खर के समान स्त्री से पराजित हुआ । अनेकों वर्ष उर्वशी के अधरासव का पान करने पर भी मेरे काम की तृप्ति वैसे ही नहीं हुई, जैसे घृताहुति से अग्नि की तृप्ति नहीं होती । इसलिए साधक को चाहिए कि वह कभी भी स्त्रैणों और स्त्रियों का सङ्ग न करे, क्योंकि विषयों और इन्द्रियों के सम्प्रयोग से ही मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं । अदृष्ट, अश्रुत वस्तु से किसी प्रकार का विकार नहीं होता । इन्द्रियों का विषय-संप्रयोग रुक जाने से सङ्कुचित होकर मन भी शान्त हो जाता है—

"अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥
अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ।
असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः ॥"

हजारों तन्त्र, मन्त्र, योग, युक्ति आदि से भी दुःसाध्यमन के निरोध और कामादि दोषों के मिटाने का यही उपाय है कि विषयों और इन्द्रियों का सम्बन्ध न होने पावे । भोगाभ्यास से इन्द्रियों की कुशलता, विषयों के प्रति चञ्चलता बढ़ती है, भोगाभ्यास कम होने से वह घट जाती है । इसलिए परमकृपालु कृष्ण भगवान् ने उद्धव से कहा है—

"तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः ।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम् ॥"

अर्थात् हे उद्धव ! तुम इन दुष्ट इन्द्रियों से भोगों का ग्रहण मत करो। आत्मा के अग्रहण से प्रतिभासमान संसार को केवल वैकल्पित भ्रम समझकर उपरत हो जाओ। बाह्य रूप से विषयों का सङ्ग छूट जाने पर भी वासनारूप से हृदय में स्थित विषयों का अनुसन्धान मन से होता है। उस से प्राणी का अनर्थ हो जाता है—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥"

वासनारूप से स्थित आन्तर विषयों का चिन्तन करने से उन के प्रति प्रीति और फिर उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। उत्कट कामवेग हो जाने से फिर प्रवृत्ति का रुकना कठिन हो जाता है, अतः सत्सङ्ग, सच्छास्त्राभ्यास, हरिचरित्रश्रवण, वेदान्त-विचार, जप, ध्यान आदि से विषयों का चिन्तन भी छोड़ना चाहिए। बस, इन कार्यों में सफल होते ही प्राणी निर्भय पद पा लेता है।

साराश यह है कि शङ्कराचार्य्य, तुलसीदास तथा सभी शास्त्र प्राणि-कल्याणार्थ ही विषयों से वैराग्य के लिए उन में दोषवर्णन करते हैं। पुरुष के लिए स्त्री कल्याणमार्ग में सब से अधिक बाधक है, अतः स्वाभाविक राग मिटाने के लिए ही आचार्यों का यह तीव्र प्रयत्न है। पर-पुरुष के प्रति स्त्री भी यही भावना बना सकती है। परन्तु एक अपने पति में आसक्तचित्त स्त्री को अन्यत्र राग बहुत कम प्राप्त होता है, अतः स्त्री के लिए पृथक् वैराग्य का उल्लेख कम मिलता है। जिस स्वाभाविक

प्रीति का शास्त्र से भी समर्थन या विधान होता है, उस से वैराग्य और उस में दोषदर्शन का विधान अनावश्यक होता है। जैसे प्राणी गुरुभक्ति द्वारा क्रमेण ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है, वैसे ही स्त्री पतिभक्ति द्वारा क्रमेण ब्रह्मनिष्ठ भी हो सकती है। स्वधर्म के अनुष्ठान से ही स्त्री, पुरुष सभी को सिद्धि प्राप्त होती है—

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।"

पुरुष के लिए भी यद्यपि साधारण रूप से अपनी पत्नी में प्रेम बाधक नहीं, प्रत्युत त्रिवर्ग का साधन ही है। कौटुम्बिक सुख, सन्तान लाभ, व्यवहार सामञ्जस्य, सभी कुछ स्त्री से ही सम्पन्न होता है, परन्तु अन्त में ब्रह्मनिष्ठा सम्पादन के लिए स्त्री, पुत्रादि सभी प्रपञ्च से उपरत हुए बिना काम नहीं ही चल सकता। अत. उसके लिए विशेष दोष वर्णन सार्थक है। इसी दृष्टि से तुलसीदासजी भी कहते हैं—

"जप तप नियम जलाशय भारी, होइ ग्रीष्म शोषइ सब नारी।"
(सिद्धान्त ४।२२)।

सङ्घर्ष और शान्ति

आजकल युग बतलाया जाता है सङ्घर्ष का, फलत शान्ति के भी जो उपाय किये जा रहे हैं, उन से बढ़ता है सङ्घर्ष ही। वास्तव में यदि शान्ति स्थापित करना है, तो सङ्घर्ष के कारणों को मिटाना होगा। भेद-भाव, सङ्कीर्णता, स्वार्थपरायणता आदि के ही वश में होकर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को, एक समाज दूसरे समाज को तथा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सताने या उसका सर्वनाश करने को प्रस्तुत होता है। दूसरे का उत्कर्ष न सह सकने या किसी तरह अपने स्वार्थ में बाधक समझने के कारण ही प्राणी दूसरों पर अत्याचार करता है। फिर जब एक तरफ ऐसी भावना होती है, तब दूसरी ओर भी वैसी ही भावना का होना सुतरां सिद्ध है। विचार करने से विदित होगा कि यद्यपि प्राणी अपनी ही स्वार्थसिद्धि से प्रसन्न होता है, अपने ही स्वार्थ में बाधा होने से उद्विग्न होता है, दूसरों की हानि में कष्ट और उनके सुख में प्रसन्नता नहीं होती, तथापि स्वार्थ के नाते ही सही, दूसरों के हितसम्पादन और अहित निवारण में भी प्रवृत्ति होनी आवश्यक है। नगर, प्रान्त या राष्ट्र के लोग यदि दरिद्र एवं भूखे रहेंगे, तो एक कोटिपति भी सुख की नींद नहीं सो सकता। भूखों का गिरोह बनेगा और उस के विरुद्ध उपद्रव खड़ा करेगा। अतः उसे अपनी सुख शान्ति के लिए ही सही, अपने कोटिपतित्व की रक्षा के लिए ही सही, दूसरों के भी भोजन की सुव्यवस्था में सहयोग देना पड़ेगा। यदि एक व्यक्ति स्वार्थवश दूसरों को सतायेगा, दूसरों पर अन्याय, अत्या

चार करेगा, तो दूसरों की भी उस के प्रति वैसी ही प्रवृत्ति होगी। अतः सभी को यह सूझ सकता है कि अपने स्वार्थ को नियन्त्रित करके सभी दूसरों का हित चाहें और करें। ऐसे निश्चय को कार्यान्वित करने से क्षमा, अहिंसा, परोपकार आदि स्वाभाविक गुणों का सहज ही सञ्चार होगा। सङ्कीर्णता, स्वार्थपरायणता के बढ़ जाने से अपने कुटुम्ब में भी ममता, स्नेह नहीं रहता। वानरी अपने बच्चे के भी मुँह से रोटी छीन लेती है। सङ्कीर्णता घटने से कुटुम्ब के समान ही प्रान्तीय, राष्ट्रिय तथा अन्ताराष्ट्रिय जगत् के व्यक्तियों में भी ममता, स्नेह तथा हितैषिता का उदय होता है। अपनेपन का जितना विस्तार किया जाता है, उतना ही सामञ्जस्य, सुव्यवस्था होती है और जितना सङ्कोच, उतना ही अनर्थ होता है। सिंह, व्याघ्र, आदि हिंस्र जन्तु भी अपने ममतास्पद बच्चों के मारने में प्रवृत्त नहीं होते। इसी तरह कुटुम्बियों, बन्धुवर्गों, जातिवर्गों एवं विश्व में ममता हो जाने से विरोधभावना दूर होती है और हितचिन्ता ही सर्वतोमुखी होकर प्रवृत्त होती है। सब कुछ आत्मा का ही है या सब कुछ आत्मा ही है, ऐसी कोई भी भावना स्थिर होने पर सङ्घर्ष या अशान्ति का अवकाश नहीं रहता

पापभावनाओं के मिटने से भौतिक एवं दैवी उपद्रवों का भी अवसर नहीं आता. अतएव अशान्ति तथा सङ्कट की कथा ही लुप्त हो जाती है। जब प्राणी शरीर, इन्द्रिय आदि की विषमता से अपने में विषमता और भेद मानने लगता है, तभी वैर, वैमनस्य, विग्रह फैलता है। कारण स्पष्ट है कि उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं हुआ। जिस काल्पनिक, औपाधिक देहादि को वह अपना स्वरूप मानता है, उसी के

अनुकूल सम्बन्धियों से प्रेम और प्रतिकूलों से वैर करता है। परन्तु जब वह शान्तचित्त होकर समझ लेता है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्मा हैं, क्योंकि ये मेरे हैं और मैं उन से पृथक् हूँ, तब वास्तविक आत्मस्वरूप जानकर वह सर्वत्र सम-बुद्धि और प्रेमभावना रखता है। पदार्थों के अस्तित्व एवं प्रकाश से ही सम्पूर्ण व्यवहार चलते हैं। अतएव स्थूल, सूक्ष्म, कारण, सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट, आन्तर-बाह्य सभी पदार्थों को जिस से अस्तित्व एवं प्रकाश प्राप्त होता है, वह शुद्ध सत् ही आत्मा है। जैसे घटादि उपाधियों द्वारा एक आकाश में अनेक भेद प्रतीत होते हैं, वैसे ही आत्मा में भी अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा अनेक भेद प्रतीत होते हैं वह विभिन्न शरीरों को ग्रहणकर तद्रूप हो जाता है, पर उसका निजी रूप ज्यों का त्यों बना रहता है। यदि "त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुः" का भाव समझ में आ जाय, तो फिर वैर, विघटन का भाव टिक ही नहीं सकता। जब सर्व दृश्यों से पृथक्, अखण्ड, अनन्त, एक आत्मा ही सब प्राणियों का वास्तविक रूप है, तब फिर किस पर कोप होगा? यदि कहीं अपने दाँतों से अपनी जिह्वा कट जाय, तो किस पर कोप किया जाय?—

"जिह्वां क्वचित् सन्दशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्।"

वस्तुतः अहङ्कारी जीव संसार भर की भिन्न भिन्न स्थूल-सूक्ष्म भौतिक चमत्कृतियों को जानने के लिए तो व्यग्र है, परन्तु उस का अपना चित्त तन्मयता के साथ अपने आप को समझने के लिए प्रवृत्त नहीं होता। संसार के दोषों, गुणों की मीमांसा में प्राणी का जन्म बीत जाता है, परन्तु अपनी मीमांसा करने की बारी ही नहीं आती। जिस ने

अपने आप को समझ लिया उस के लिए और क्या समझना शेष रह जाता है ! वह स्वरूपभूत अन्यान्य जीवादि प्रपञ्चों को अपना परम सम्बन्धी किंवा आत्मा ही समझने लगता है। ऐसी दशा में किसी के भी अहित का अवकाश ही कहाँ ? इसीलिए श्रुति ने शान्ति का सर्वसुन्दर उपाय बतलाते हुए कहा है—

"तज्जलानिति शान्त उपासीत"

अर्थात् समस्त विश्व 'तज्ज' परमात्मा से ही उत्पन्न होनेवाला, 'तज्ल' उस में ही लीन होनेवाला और 'तदन' उसी में स्थित होकर व्यवहृत होनेवाला है। जैसे फेन, बुद्बुद, तरङ्ग आदि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सब कुछ जल में ही होता है, अतः वह जलस्वरूप ही है, वैसे ही सब कुछ सत्स्वरूप परमेश्वर ही है। इस बुद्धि से शत्रु मित्रभावना मिटकर अवश्य ही शान्ति होती है। उच्चावच, विषम, विनश्वर संसार में अनुस्यूत शुद्ध सत्स्वरूप अनन्त बोध का अनुभव सचमुच ही सब अनर्थों को मिटा देता है। सर्वक्षण नहीं तो कुछ क्षण ही सही यह भावना प्रत्यक्ष ही शान्तिकामधेनु है। इसी ज्ञान से साम्यपद में स्थिति होती है। अनन्त, अखण्ड, कूटस्थ, निर्विकार ब्रह्मतत्त्व का अनुभव होने पर संसार की कोई भी स्थिति उसे विचलित करने में समर्थ नहीं होती—

"यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।"

जिन उपायों से व्यक्तिगत शान्ति सिद्ध है, उन्हीं से सामूहिक शान्ति भी सम्भव है, क्योंकि व्यक्तियों का समूह ही तो विश्व है। यदि सब व्यक्ति अपने एवं अपने कुटुम्ब, ग्रामादि के सुधार में प्रवृत्त न होकर विश्वसुधार और विश्वशान्ति का ही गीत गायें, तो क्या कभी भी विश्व

का सुधार एवं उस में शान्ति हो सकती है ? इसीलिए समष्टिहित पर ध्यान रखते हुए भी व्यष्टिहित की चिन्ता करनी ही पड़ती है, क्योंकि जो अपना ही हित नहीं कर सकता, वह दूसरों का उद्धार कैसे करेगा ? जो स्वयं शान्ति से दूर है, वह दूसरों को शान्ति कैसे देगा ? यह अवश्य है कि समाज का अहित करके अपना हित न किया जाय। राष्ट्र का अहित करके समाज का हित एवं विश्व का अहित कर राष्ट्र का हित करना अनुचित है। यही स्वार्थपरायणता है। व्यष्टिहित के सामने समष्टिहित की परवाह न करना यही वैमनस्य, विघटन एवं अशान्ति की जड़ है। समष्टिहित को कुचलकर व्यष्टिहित का ध्यान ही अनुदारता का अर्जन करता है। जिस हित में समष्टिहित की उपेक्षा हो, वह चाहे वैयक्तिक, चाहे सामाजिक, चाहे राष्ट्रिय स्वार्थ हो, अवश्य ही संसार में अशान्ति फैलायेगा। इसीलिए व्यक्तिवाद के समान ही सम्प्रदायवाद, समाजवाद एवं राष्ट्रवाद भी खतरनाक ही हैं। आज की अशान्तियों को बढ़ाने में सम्प्रदायवाद एवं राष्ट्रवाद ही मुख्य हैं। बर्बरतापूर्ण महायुद्ध राष्ट्रवाद का ही दुष्परिणाम है। परन्तु इस का यह आशय कदापि नहीं कि व्यक्तिहित, समाजहित तथा राष्ट्रहित की उपेक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जैसे समष्टिहित में व्यक्ति का हित आ ही जाता है, वनरक्षा में वृक्षों की रक्षा हो ही जाती है, वैसे ही व्यष्टिहित से समष्टिहित-सम्पादन में अधिकाधिक सुविधा होती है। सङ्कीर्ण कार्यक्षेत्र में कार्य जितना प्रभावकारी होता है, उतना विस्तीर्ण कार्यक्षेत्र में नहीं। अतः सफलता के लिए कार्यक्षेत्र का क्रमिक विकास ही ठीक है। एक ग्राम में प्रभावोत्पादक कार्य कर लेने पर दूसरे ग्रामों में सफलता मिलती है। इसी प्रकार एक-दो नगरों में सफलता मिलने पर

अन्यत्र बड़ी सहायता मिलती है। अतः विस्तृत कार्यक्षेत्र की अपेक्षा पहले किसी सङ्कीर्ण कार्यक्षेत्र में स्थिरता के साथ कार्य करने से शीघ्र ही व्यापक लाभ होता है। बड़ी शक्ति का कार्यक्षेत्र व्यापक होना उचित है, परन्तु छोटी शक्ति का तो छोटा ही होना चाहिए। जैसे युद्ध में महती सेना पर व्यापक आक्रमण या प्रत्याक्रमण किया जा सकता है, परन्तु छोटी सेना—टुकड़ियों—से तो परिमित साध्य क्षेत्रमें ही आक्रमण उचित है, ठीक वैसे ही अन्य कार्यक्षेत्रों में आगे बढ़ना चाहिए। अतएव पहले व्यक्तिहित, फिर कुटुम्बहित, तदनन्तर समाज, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्वहित में प्राणियों को प्रवृत्त होना चाहिए, तभी सफलता मिल सकती है।

नीतिशास्त्रों ने नैतिक सफलता के लिए आत्मसंयम की परमावश्यकता बतलायी है। अपनी इन्द्रियों एवं मन, बुद्धि को स्वाधीन कर लेने पर ही दूसरों को अनुकूल बनाया जा सकता है। आत्मसंयम के अनन्तर साधारण शक्तिवाले पुरुषों को कुटुम्बियों तथा पार्श्ववर्त्तियों का ही उद्धार करना चाहिए। आजकल के लोग राष्ट्र एवं विश्व के सङ्घटन तथा सुधार के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहते हैं, किन्तु अपने कुटुम्बियों का सङ्घटन करने में अपने को अक्षम पाते हैं। भला जिसने कुटुम्ब को ही कुटुम्ब नहीं बनाया, वह निखिल वसुधा को कुटुम्ब बनाने में कैसे समर्थ होगा? माता पिता, भाई-बहन, चचा-भतीजे, वृद्ध, युवक, बालक विभिन्न प्रकृति के कुटुम्बी स्त्री-पुरुषों को सहिष्णुता के साथ जिसने अनुकूल बना लिया, जिस ने घर के अनावश्यक प्रतीत होनेवाले वृद्धों और गरम स्वभाव के युवकों का सम्मान, लालन, पालन कर लिया, वह

अवश्य बाहर के सङ्घर्षों को भी सहन कर सकेगा। अतएव यही पक्ष ठीक है कि क्रमेण व्यष्टिभाव मिटाते हुए पूर्ण समष्टिभाव को प्राप्त किया जाय। इस दृष्टि से विश्वशान्ति के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति, फिर कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र में सम्मिलित होना परमावश्यक है। जबतक इस क्रम से नहीं चला जाता, तबतक सफलता कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। आजकल राजनीतिक संस्थाओं, सन्धियों, समझौतों द्वारा शान्ति स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है, परन्तु जबतक व्यक्ति में सुधार नहीं होता, ये सन्धियाँ और समझौते 'कागज के टुकड़े' ही बने रहेंगे। यदि सचमुच सङ्घर्ष मिटाना और विश्व में शान्ति स्थापित करना है, तो इसके लिए उन उपायों का प्रयोग करना होगा, जिन्हें आत्मविवेकियों ने बतलाया है। (सिद्धान्त ६।१०)।

वेदों की मान्यता

कहने के लिए तो कभी नवशिक्षित लोग भी यही कहते हैं कि वेदादि शास्त्रों का प्रामाण्य हम भी मानते हैं। परन्तु जब वेद-शास्त्रोक्त आचार-विचार का प्रश्न आता है, तब वे अपनी बुद्धि की ही प्रधानता मानते हैं। वेदोक्त कर्म-धर्म, आचार-विचार वहीं तक उन्हें मान्य हैं, जहाँ तक अपनी बुद्धि का विरोध न हो। शुद्ध वैदिकों में और अर्वाचीन वेद-प्रामाण्यवादी परिष्कृत सनातनियों में यही मौलिक दृष्टिकोण का भेद है। आधुनिक विद्वान् वेद को इसलिए प्रमाण मानते हैं कि उनमें बहुत उच्च कोटि के युक्तियुक्त हृदयग्राही श्रेष्ठ तत्त्व वर्णित हैं। परन्तु प्राचीन विद्वानों का ठीक इसके विपरीत यह कहना है कि वेदों का प्रामाण्य स्वतः है। इसलिए नहीं कि वे श्रेष्ठ तत्त्व का वर्णन करते हैं अपितु वे तत्त्व ही इसलिए श्रेष्ठ माने जाते हैं कि वे वेदों से प्रतिपादित हैं। श्रेष्ठ तत्त्व के प्रतिपादक होने से वेद आदरणीय हैं यह एक पक्ष है और वेद-प्रतिपादित होने से ही वे तत्त्व श्रेष्ठ हैं यह दूसरा पक्ष है। इसी तरह एक पक्ष वैदिक घटनावलियों से वेदनिर्माण के काल का अन्वेषण करता है अर्थात् घटनानुसारी वेदनिर्माण मानता है, पर दूसरा पक्ष अनेक वैदिक शब्दों के आधार पर घटनाओं का घटना मानता है, अर्थात् घटनानुसारी वेद नहीं, किन्तु वैदिकशब्दानुसारिणी घटनाएं होती हैं। किसी भी कार्यसृष्टि के पहले ज्ञान का होना आवश्यक है और सभी ज्ञानों में शब्द का अनुवेध अवश्य होता है। अतः अनादि ईश्वर की अनादि सृष्टि

के मूलभूत ज्ञान के साथ भी किन्हीं शब्दों का अनुवेध अवश्य मानना पड़ता है। वह यही प्राचीनतम शब्द वेद हैं। आधुनिकों की दृष्टि में वैदिक ज्ञान की महत्ता है, परन्तु प्राचीन विद्वानों की दृष्टि में वैदिक शब्दों की महत्ता है। वैदिक ज्ञान भले ही वेदों के अनुवादरूप संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंगरेजी भाषाओं में व्यक्त हो सकें, परन्तु उनका वैसा महत्त्व नहीं जैसा कि वैदिक शब्दों और उनसे ही व्यक्त ज्ञानों का। वस्तुत. अपनी बुद्धि से युक्तियुक्त निर्णीत तत्त्व के प्रतिपादक होने से यदि वेदों की मान्यता है, तब तो उनका कोई महत्त्व ही नहीं। दिकों की दृष्टि में तो माना न्तरसिद्ध अर्थ के प्रतिपादक वेदांश अनुवादक होने से अप्रमाण ही समझे जाते हैं। जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्।"

वस्तुतः यदि शब्द का ज्ञान चक्षु से ही हो जाय, तब तो एक पृथक् श्रोत्र इन्द्रिय मानने की अपेक्षा ही नहीं रहती। अत. चक्षु आदि से अगम्य केवल श्रोत्रग्राह्य शब्द को जानने के लिए ही श्रोत्र की आवश्य कता होती है। इसी तरह यदि वेदार्थज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान से ही हो सकता है, तब तो उसके लिए वेद प्रामाण्य की अपेक्षा ही नहीं रहती। इसलिए प्रत्यक्ष-अनुमान के अविषय धर्म ब्रह्मादि के ज्ञानार्थ ही वेद-प्रामाण्य मानने की अपेक्षा होती है। यदि वेद उत्तमतत्त्वप्रतिपादक होने से मान्य हैं, तो यह प्रश्न होगा कि उन तत्त्वों की उत्तमता का ज्ञान किस से हुआ? यदि प्रत्यक्षानुमानजन्य बुद्धि से, तब तो जिस प्रमाण से उनकी उत्तमता का ज्ञान हुआ, उसी से उनका ज्ञान भी हो सकता है। फिर उन तत्त्वों को जानने के लिए एक पृथक् प्रमाण मानने की अपेक्षा ही नहीं होती। ऐसी दशा में प्रत्यक्षानुमानमूलक ग्रन्थ की वैसी ही

स्थिति होगी, जैसी बौद्धादि ग्रन्थों की। वे ग्रन्थ आदरणीय होते हुए भी जैसे प्रत्यक्ष-अनुमान से भिन्न आगमप्रमाण का कोई भी स्थान नहीं होता, वैसे ही वेदों का भी प्रत्यक्षानुमान से भिन्न कोई स्थान नहीं। तभी यह सम्भव है कि जो वेदार्थ अपनी बुद्धि से सङ्गत प्रतीत हुआ, वह ठीक है और जो ऐसा न प्रतीत हुआ, उसका कोई मूल्य नहीं। ऐसी स्थिति में वेदों का कोई भी महत्त्व नहीं और उनके मानने, न मानने का भी कोई प्रश्न नहीं रहता। इसी दृष्टि से नवशिक्षा के रङ्ग में रङ्गे हुए आधुनिक वेद-व्याख्याता वेदों से रेल, तार, वायुयान आदि का बनाना सिद्ध करते हैं। साइन्स के तत्त्वों को किसी न किसी देवता के रूप में दिखलाना चाहते हैं। शतशः यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वेदों में वही बातें हैं, जो आज के विज्ञान में हैं। वर्तमान भूगोल, खगोल एवं विचित्र चमत्कारों का अस्तित्व वेदों से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस पर किसी सभा में एक विद्वान् ने बहुत ही ठीक कहा था कि "वैदिक विज्ञान को आधुनिक विज्ञान के पीछे दौड़ाना वैसा ही खतरनाक है, जैसे किसी भद्र व्यक्ति को उन्मादी अन्धे भैंसे की पूँछ में बाँध देना।" कारण यह है कि उसकी कोई स्थिति ही नहीं, वह तो क्षण क्षण में बदलता रहता है। फिर उसके पीछे वेदार्थ की खींचातानी क्यों की जाय? प्राचीन वैदिक तो किसी अर्थ की अच्छाई-बुराई का निर्णय वेद से करते हैं न कि अर्थ की भलाई-बुराई से तत्प्रतिपादक वेद की भलाई-बुराई का निर्णय। अतएव वे अपौरुषेय होने से ही वेदों का प्रामाण्य मानते हैं।

नैयायिकादि सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा निर्मित होने से वेदों का प्रामाण्य

मानते हैं। परन्तु उस मत में यह शङ्का अनिवार्य रूप से रहती है कि ईश्वर में क्या प्रमाण? यदि वेद, तब तो 'अन्योऽन्याश्रयदोष' स्पष्ट है। यदि अनुमान, तब तो अनुमानसिद्ध ईश्वरसामान्य ही होगा, क्योंकि अनुमान से ईश्वरविशेष की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर तो जिन जिन युक्तियों से नैयायिक वेदकार को परमेश्वर बतलायेंगे, उन्हीं युक्तियों से भिन्न भिन्न मतवादी अपने अपने धर्मग्रन्थकार को भी परमेश्वर सिद्ध करेंगे। ऐसी स्थिति में सब का प्रामाण्य होगा या किसी एक का? यदि एक का, तो किस का और किस तरह और दूसरों का कैसे क्यों नहीं? यदि सब का, तो अपरिहार्य पारस्परिक विरोधों का क्या समाधान? इसीलिए प्राचीन वैदिक बीच, ईश्वर के समान ही अकृत्रिम ईश्वरीय विज्ञान में अनुविद्ध अकृत्रिम शब्दों को ही वेद मानते हैं और उन्हीं के आधार पर ही किन्हीं भी कर्मों की युक्तता-अयुक्तता, धर्मत्व-अधर्मत्व आदि का निर्णय करते हैं। इस दृष्टि से देखें तो आन्तर-बाह्य, वैयक्तिक-सामूहिक सभी तरह के कर्मों में शान्तिप्रद धर्म के भाव आ सकते हैं और उनसे लौकिक अभ्युदय, पारलौकि अभ्युदय तथा पराशान्ति मोक्ष आदि सभी का सम्बन्ध है। इसके विपरीत निर्णय प्राणियों की भिन्न भिन्न भावनामात्र हैं। कोई बाह्य एवं सामूहिक कर्मों पर ही जोर देते हैं, कोई आन्तर वैयक्तिक कर्मों पर ही जोर देकर बाह्य सामूहिक कर्मों को हेय बतलाते हैं। देश, काल, परिस्थितियों के प्रभाव से प्राणियों की अनेक भावनाओं का सृष्टि और संहार होता है। इस का कुछ ठिकाना नहीं है। अतएव बिना किसी स्थिर प्रमाण (कसौटी) के इन तत्त्वों का निर्णय असम्भव है। बुद्धिवाद का महत्त्व है सही, परन्तु सर्वत्र बुद्धिवाद के प्रयोग से मूल

स्थिर श्रद्धा को खो बैठना सचमुच बड़ा ही खतरनाक है। अतः परिस्थितियों के कारण या किसी तरह भाव के परिवर्तन होने पर भी एक शृङ्खला की अपेक्षा है ही। (सिद्धान्त २।१)।

वेदाध्ययनाधिकार

स्त्री-शूद्र के लिए वेदाध्ययनाधिकार के सम्बन्ध में शास्त्रों का मत सुस्पष्ट है। भागवत स्त्री, शूद्रादि के लिए वेदश्रवण का निषेध करता है—

"स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।"

देवीभागवत में भी "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्" से उन के लिए वेदश्रवण की अनधिकारिता बतलायी गयी है। याज्ञवल्क्य स्त्री-शूद्रों के लिए वैदिक मन्त्रोच्चारण का निषेध करते हैं—

"न वैदिकं जपेच्छूद्रः स्त्रियश्चैव कदाचन।"

'शातातपसंहिता' में यहाँतक कहा गया है कि वैदिक मन्त्र के जितने अक्षर स्त्री शूद्रादि को पढाये जाय, अध्यापक को उतनी ब्रह्महत्या का पाप लगता है—

"यावन्त्यक्षराणि मन्त्रादेः स्त्रीशूद्रादेः प्रदापयेत्।
तावत्यो ब्रह्महत्याः स्युः।"

मनु तथा याज्ञवल्क्य स्त्रियों के लिए संस्कारों में भी मन्त्रपाठ का निषेध करके अमन्त्रक संस्कार करने का आदेश करते हैं—

"नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः॥" (मनु),
"तूष्णीमेताः क्रियाः स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः" (याज्ञवल्क्य)।

ऐसे ही और भी वचन दिये जा सकते हैं। पर कहा यह जाता है कि "ज्ञान पर ताला लगाना ठीक नहीं, उसे प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री, पुरुष सब को समान अधिकार होना चाहिए। वेद हिन्दूधर्म के आधार माने जाते हैं, उनके अध्ययन का अधिकार द्विजादि और केवल पुरुषों को ही क्यों? उन का अध्ययन भी क्या कोई 'ऐटमबम' का रहस्य है, जो इतना गुप्त रखा जा रहा है?" स्वतन्त्रता और समानता की दृष्टि से तो यह तर्क ठीक ही जान पड़ता है, परन्तु कुछ विचार करने पर ज्ञात होगा कि बात ऐसी नहीं है। जैसे शरीर के भीतर सिर, आँख, कान, हाथ, पैर आदिकों के अलग अलग काम होते हैं, सब के एक से कर्म नहीं, वैसे ही विराट् या समाज के मुख, बाहु आदि रूपी ब्राह्मण, क्षत्रियों के कर्म अलग अलग हैं। अधिकारी के ही शब्दों का महत्त्व है। 'अमुक को दण्ड दो, अमुक को द्रव्य दो' इत्यादि वचनों को उन्मत्त भी बोलता है और न्यायाध्यक्ष या राजा भी। राजा आदि के उच्चरित उपर्युक्त वचन सार्थक हैं, उन्मादि-उच्चरित शब्द निरर्थक हैं। इसी तरह शास्त्रों ने जिन्हें वैदिक शब्दों के बोलने-पढ़ने का अधिकार दे रखा है, उन का उच्चारण सार्थक है। जिन को शास्त्रीय अधिकार नहीं, उन का उच्चारण व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है। कारण यह है कि अपने यहाँ प्रत्येक कार्य के दृष्ट अदृष्ट, लौकिक-पारलौकिक दोनों प्रकार के फल माने गये हैं। दृष्ट फल के अनुसार ही किसी बात का निर्णय नहीं किया जा सकता, अदृष्ट फल का भी ध्यान रखना ही पड़ेगा। उस अदृष्ट फल का ज्ञान शास्त्रों के द्वारा ही हो सकता है। इस तरह जिस का निषेध शास्त्रों में मिलता है, उस के करने से अवश्य ही हानि होगी।

जो शास्त्रानुसारी आचरण को अन्धानुकरण समझकर उस में 'अकल का दखल' चाहते हैं, उन्हें अकल की भी परीक्षा कर लेनी चाहिए। यह सभी जानते हैं कि अक्ल या बुद्धि से ही उत्थान और पतन होता है। इसीलिए अक्लमन्द किसी कसौटी पर उसकी सचाई-अच्छाई की परीक्षा करते हैं। बुद्धि के ही परिणाम भ्रमात्मक और प्रमात्मक दो प्रकार के ज्ञान होते हैं। प्रमात्मक ज्ञान मान्य हैं और भ्रमात्मक उपेक्ष्य। इसीलिए प्रामाण्यवाद के अनुसार ही ज्ञानों के प्रामाण्य-अप्रामाण्य पर विचार किया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि प्रमाणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रमाण है, अतएव आदरणीय है, अन्य नहीं। प्रत्यक्षमात्र से काम न चल सकने के कारण ही अनुमान, प्रत्यक्षानुमान से काम न चलने पर ही आगम माना जाता है। जैसे यदि कान के बिना नेत्रादि से कान के विषय शब्द का ज्ञान हो जाता, तो कान की अपेक्षा नहीं थी, वैसे ही यदि प्रत्यक्ष, अनुमान से काम चल जाता, तो शास्त्रप्रमाण मानने की अपेक्षा नहीं थी। जैसे शब्द का ज्ञान कान से होता है, नेत्रादि अन्य इन्द्रियों से नहीं, वैसे ही धर्म का ज्ञान शास्त्र से ही होता है, अन्य प्रत्यक्ष, अनुमान से नहीं। इसलिए संसार के सभी धर्मवादियों ने किसी न किसी धर्मग्रन्थ को प्रमाण मान रखा है। जिस का कोई धर्म नहीं, उसकी तो बात ही और है। यज्ञ, तप, दान, संयम आदि का क्यों, किसे, क्या फल होगा, उस को समझने में स्वतन्त्र बुद्धि वैसे ही असमर्थ है, जैसे शब्द के ज्ञान में नेत्र। जैसे नेत्र के विषय रूप में कान का और कान के विषय शब्द में नेत्र का दखल मानना व्यर्थ है, वैसे ही

शास्त्र के विषय धर्म में 'अक्ल का दखल' व्यर्थ है। जहाँ प्रत्यक्षानुसारिणी, अनुमानानुसारिणी प्रमारूपिणी बुद्धि का भी धर्म में दखल नहीं, वहाँ फिर स्वतन्त्र, प्रमाणशून्य भ्रमात्मक बुद्धि के दखल का कहना ही क्या!

हाँ, शास्त्रानुसारिणी, शास्त्रजन्य अक्ल का दखल मानने में कोई आपत्ति नहीं। अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम होम से स्वर्ग कैसे होगा, मूर्तिपूजा या जप से कौन देवता क्यों प्रसन्न होंगे, इत्यादि विषयों में किसी की बुद्धि क्या बतला सकती है? ग्रन्थ या पुस्तकमात्र शास्त्र नहीं है यह ठीक है, जो अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र या आधुनिक ग्रन्थ मनुष्यों के बनाये हैं, वे प्रायः प्रत्यक्षानुमानमूलक हैं, इसलिए वहाँ प्रत्यक्षानुमान की प्रवृत्ति होती है। वे शास्त्र या अपौरुषेय नहीं माने जाते और न उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य ही हो सकता है। बौद्धों के यहाँ बड़े बड़े गम्भीर ग्रन्थ हैं, पर वे प्रत्यक्षानुमानमूलक ही हैं, अतएव वे आगमप्रामाण्यवादी नहीं हैं, केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं। वेदशास्त्र में प्रत्यक्षानुमान के अविषय धर्म और ब्रह्म का प्रतिपादन करने से ही वे प्रत्यक्षानुमान से अतिरिक्त स्वतन्त्र प्रमाण माने जाते हैं। इसीलिए नेत्र से पृथक् कान के समान प्रत्यक्षानुमान से पृथक् आगम प्रमाण की मान्यता है। अतः जैसे कान के विषय शब्द में नेत्र का दखल नहीं, ठीक वैसे ही शास्त्र के विषय धर्म में उच्छृङ्खल या प्रत्यक्षानुमानानुसारिणी बुद्धि का दखल नहीं।

जो वेदों को सुनना पढ़ना चाहेगा, वह तो उन पर आदर और विश्वास रखकर ही ऐसा चाहेगा। यदि शास्त्रों पर विश्वास है, तो

उन के अनुसार अध्ययन के अधिकार-अनधिकार को भी मानना पड़ेगा। जिसे उन पर विश्वास नहीं, उसे उन के पढ़ने-सुनने की रुचि ही क्यों, क्योंकि वेदों में बतलाये गये अनुयाज, प्रयाज, देवता, स्वर्ग आदि का कैसे, क्यों, क्या उपयोग होता है, इन विषयों में चाहने पर भी बुद्धि नहीं दौड़ सकती। जब ऐसे ग्रन्थों को पढ़ना-सुनना चाहते हैं, तब अधिकारों-अनधिकारों पर भी विश्वास करना ही होगा। फिर जिस का अधिकार जिन ग्रन्थों के अनुसार ही नहीं, उसे उनके पढ़ने से रोकना, न मानने पर दण्ड देना अन्याय और स्वतन्त्रता का छीनना कैसे कहा जा सकता है? वेद के पढ़ने सुनने का निषेधमात्र होने से स्त्री शूद्रों पर अत्याचार या उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं कहा जा सकता। जिस विषय में जिस का अधिकार न हो, उस से उसे रोकना और न रुकने पर दण्ड देना अत्याचार नहीं कहा जा सकता। यदि कोई डाक्टर किसी को अपने औषधालय में घुसने और मनमानी किसी औषध के खाने से रोकता है तथा न मानने पर कानूनी कारवाई करता है, तो यह उस का अत्याचार नहीं हो सकता। यदि किसी को अपने परमकल्याण प्राप्त करने में बाधा डाली जाय, तो यह अवश्य अन्याय है। परन्तु अपने यहाँ स्त्री, शूद्र, अन्त्यज सभी को स्वधर्मपालन से परमकल्याण की प्राप्ति बतलायी गयी है।

अहिंसा, सत्य आदि नियमों के मानने, ईश्वर की उपासना करने, हरिनाम जपने, इतिहास पुराणों की कथाओं को सुनकर अपने अधिकारानुसार धार्मिक कृत्य करने की स्त्री, शूद्र आदि को पूर्ण स्वतन्त्रता है। चन्द्रोदय, मृगाङ्क, त्रिकुटा, त्रिफला आदि सब के लिए एक तरह

से कल्याणकारक नहीं है। रोगी की प्रकृति और उसके रोग के अनुसार ही अपधे लाभ होता है। ठीक वैसे ही सर्व ज्ञान, सर्व शास्त्र सब के लिए लाभदायक नहीं है। शास्त्रों के मतानुसार जैसे किसी ब्राह्मण का मदिरापान से अनिष्ट होता है, वैसे ही स्त्री, शूद्र, अन्त्यजों का वेदाध्ययन से। उन के लिए इतिहास पुराणों के श्रवण द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार शास्त्रों ने दे रखा है। जैसे इक्षुना सिता, शर्करा, कन्द आदि पदार्थों को देकर भी बालक के हाथ से इक्षुदण्ड छीननेवाली मा हितैषिणी ही है, वैसे ही इतिहास पुराणों द्वारा वेदार्थसार प्रदान करके स्त्री-शूद्रों का वेदाध्ययन रोकनेवाले शास्त्र उनके हितैषी ही हैं। योग्यता एवं अधिकार के अनुसार ही अपने यहाँ सब के कार्य निश्चित किये गये हैं। केवल प्रणव का जप संन्यासी के लिए ही विहित है। यदि कोई गृहस्थ हठ करके वैसा करता है, तो वह अपना अहित ही करेगा। गृहस्थ को यह बात बतला देना उस के साथ अन्याय करना नहीं। अनधिकारी को किसी विषय का ज्ञान करा देने से न उस का ही कोई लाभ होगा और न उस विषय की ही कोई वृद्धि होगी, उलटे दोनों का अनिष्ट ही होगा। 'ऐटमबम' के रहस्य को जानकर उच्चकोटि के वैज्ञानिक ही उस से लाभ उठा सकते हैं, 'लाउड स्पीकर' द्वारा उस के नुसखे को घोषित कर देने से जनता उस से क्या लाभ उठायेगी? यदि कोई उस के साथ खेलवाड़ करेगा, तो जलकर भस्म हो जायगा। वैसे तो आजकल जो चाहे वेद पढ़ सकता है, वे छपे हुए बाजारों में बिकते हैं, उन के पढ़ने में कोई रुकावट ही क्या हो सकती है? पर ऐसी पढ़ाई का परिणाम ही क्या? मैक्समूलर ने वेदों का अध्ययन कर डाला, उनका

अंग्रेजी में अनुवाद भी किया, पर जिस अन्तिम परिणाम पर वे पहुँचे, वह तो यही न, जैसा कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"वेद-मन्त्र केवल अतिप्राचीन ही नहीं दकियानूसी और निरर्थक हैं। जिस वातावरण में हम रह रहे हैं, उस में मँडराते रहने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। अपने अजायबघरों में उन्हें प्रतिष्ठित पद देने को हम तैयार हैं, परन्तु हम अपने जीवन को उनके द्वारा प्रभावित नहीं होने दे सकते। उन में काफ़ी जङ्गलीपन है, परन्तु वह आर्य जङ्गलीपन है, हबशियों या रविड़ों का नहीं। भारत के कट्टर दार्शनिकों की दृष्टि में वेद की एक पंक्ति भी पुरुषकृत नहीं है, परन्तु मैं स्पष्ट कह देता हूँ कि इन मन्त्रों में कोई भी ऐसी बात नहीं है कि उसे इतनी बड़ी पदवी दी जा सके। वेद का अधिकांश बालोचित, युक्तिहीन साधारण बातों से परिपूर्ण है।" आजकल इसी प्रकार का वेदों पर अनुसन्धान चल रहा है, इस से क्या लाभ हो सकता है ?

शास्त्रों में वेदों का दूसरा नाम 'अनुश्रव' आता है, जिस का अर्थ है गुरुमुखोच्चारण से सुना जानेवाला—

"गुरोर्मुखात् अनुश्रूयते इति अनुश्रवो वेदः।"

उपनयनादिसंस्कारसम्पन्न होकर गुरुपरम्परा से अधीत ऋगादि शब्दराशिविशेष ही वेद हैं। बिना उपनयन, बिना व्रत, बिना आचार्य के पुस्तकमात्र से अधीत शब्दमात्र वेद नहीं है। किसी आंग्लदेशीय विद्वान् ने किसी काशीस्थ विद्वान् से गायत्रीमन्त्र पूछा। उस ने कहा कि 'आप का अधिकार नहीं है, अतः आप को वह मन्त्र नहीं बतलाया जा सकता।'

उस विदेशी विद्वान् ने गायत्रीमन्त्र का उच्चारण करके कहा कि 'यही तो गायत्रीमन्त्र है।' इस पर भारतीय विद्वान् ने कहा—'यह गायत्री मन्त्र नहीं, मन्त्र तो यह तब होगा, जब आचार्यपरम्परा द्वारा उपनीत अधिकारी से प्राप्त किया जाय।' सचमुच वैदिक लोग सम्प्रदायपरम्परा न टूटने और असमर्यमाणकर्तृक होने से ही वेदों को अपौरुषेय बतलाते हैं। वेदाध्ययन में इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ेगा। वैसे चाहे जो कोई भी पढ़ाता रहे और जो चाहे पढ़ता रहे, पर उस से कल्याण किसी का नहीं, उलटे अनिष्ट है। शास्त्रीय अधिकार का निर्णय शास्त्र से ही हो सकता है। जो जिस का पण्डित है, वही उस का स्पर्श कर सकता है। जैसे एक बुद्धिमान् वकील घड़ी के पुर्जों को छूएगा, तो उस से हानि ही होगी, वैसे ही शास्त्र का अपण्डित शास्त्र का स्पर्श करेगा, तो अनर्थ ही करेगा। शास्त्र का विषय ऐसा नहीं है, जिस का निर्णय सर्वसाधारण सभाओं में 'वोटों' की गणना से हो सके। मनु का कहना है कि जो वेद और धर्म को वेद के अनुकूल तर्क से विचार करता है, वह धर्म को जानता है, दूसरा नहीं। एक भी वेदज्ञ ब्राह्मण जिस को धर्म कहे, उस को ही धर्म जाने, पर दस हजार भी मूर्खों का कहा धर्म मान्य नहीं होता—

> "आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
> यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥
> एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येत् द्विजोत्तमः।
> स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥"
>
> (१२।१०६, ११३)।

ऐसी दशा में यह विषय किसी 'विश्वविद्यालय' के कोर्ट, कौंसिलों द्वारा निर्णय का नहीं है, इस में तो शास्त्राज्ञा ही मान्य होनी चाहिए। सचमुच हिन्दूधर्म की यदि रक्षा करना अभीष्ट है, तो शास्त्रविरुद्ध जाकर ऐसा नहीं किया जा सकता। (सिद्धान्त ६।१२)

विश्ववृक्ष

गीता के पन्द्रहवें अध्याय का पहला श्लोक है—

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥"

"यह संसार एक अश्वत्थवृक्ष है। इसका मूल ऊपर है, शाखाएँ नीचे हैं। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि वैदिक छन्द इसके पत्ते हैं। एवंविशेषणविशिष्ट इस अश्वत्थवृक्ष को विज्ञलोग अव्यय कहा करते हैं। जो इस समूल वृक्ष को जानता है, वह सर्ववेद का विद्वान् होता है।" सचमुच यह वृक्ष बड़ा विलक्षण है। इस का विचार गम्भीरता से करना चाहिए, क्योंकि इसको जाननेवाला वेदवित् होता है। वेदवित् होना, ब्रह्मवित् होना एक ही बात है। ब्रह्मविद्या ही सर्वानर्थनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दावाप्ति का कारण है, अतः मुमुक्षुओं को सावधानी से इस समूल वृक्ष को जानना चाहिए। मालूम होता है कि गङ्गाप्रवाह से छिद्यमान बहुत ऊँचे कगार पर से नीचे की ओर गिरे हुए अर्धोन्मूलित अश्वत्थवृक्ष से इस संसारवृक्ष का उपमान किया गया है। उस वृक्ष का मूल ऊपर की ओर होता है, शाखाएँ नीचे की ओर होती हैं। यद्यपि संसार साक्षात् अश्वत्थवृक्ष नहीं है, तथापि प्रकारान्तर से यह भी वैसा ही है, अतः इसे वृक्ष कहा गया है। 'ऊर्ध्व' का अर्थ ऊपर, ऊँचा या उत्कृष्ट है। सङ्कोचक प्रमाण न होने से यह उत्कृष्टता निरतिशय एवं निरवधिक है। तथाच सारांश यह हुआ कि निरवधिक, निरतिशय,

उत्कृष्ट परब्रह्म ही इस संसारवृक्ष का मूल है। वेद, वेदान्तों ने परब्रह्म से ही इस विश्ववृक्ष की उत्पत्ति कही है और ब्रह्म सब से उत्कृष्ट है। पार्थिव प्रपञ्च से उत्कृष्ट पृथ्वी है, पृथ्वी से उत्कृष्ट जल, जल से तेज, उससे वायु, वायु से आकाश एवं अहंतत्त्व, महत्तत्त्व, अव्यक्ततत्त्व और उस से भी उत्कृष्ट सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, कार्य्यकारणातीत परब्रह्म है। यह उत्कृष्टता सूक्ष्मता, व्यापकता, असङ्गता, स्वच्छता, कारणता आदि अनेक दृष्टियों से विवक्षित है। पृथिव्यादि कार्यों की अपेक्षा जलादि कारणों में सूक्ष्मता, व्यापकता, स्वच्छता, असङ्गता आदि है ही। परमकारण या कार्य्यकारणातीत भगवान् में महदादि समस्त कार्यों की अपेक्षा निरतिशय एवं निरवधिक सूक्ष्मता, व्यापकता, असङ्गता एवं स्वच्छता है। जो जड़, विनश्वर या दुःखात्मक एवं परिच्छिन्न है, वह सर्वोत्कृष्ट कदापि नहीं हो सकता, अतः स्वप्रकाश, नित्य, अखण्ड, आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट है। इसलिए परब्रह्म परमात्मा भगवान् ही ऊर्ध्व है। काल की दृष्टि से भी सर्वापेक्षया पुरातन एवं ज्येष्ठ होने से परमात्मा ऊर्ध्व है। वही ऊर्ध्व इस संसारवृक्ष का मूल है।

'अधः' अर्थात् नीचे एवं अपकृष्ट कोटि के महत्तत्त्व, अहन्तत्त्व, पञ्चतन्मात्रा आदि ही इस वृक्ष की शाखाएँ हैं। महत्तत्त्व आदि कार्यों में जड़ता, परिच्छिन्नता, विनश्वरता, दुःखात्मकता, अस्वच्छता, स्थूलता मिलती है। आकाश और पार्थिव प्रपञ्चों में जो भेद है वह स्पष्ट है। आकाश में कितनी स्वच्छता, व्यापकता, असङ्गता है और परम्परया उसी से समुद्भूत पार्थिव प्रपञ्च में 'कितनी

मलिनता, परिच्छिन्नता आदि दिखायी देते हैं। प्रकारान्तर से भी सर्वोपरि विराजमान, अपार सच्चिदानन्दसुधाजलनिधि ब्रह्म ही ऊर्ध्व है, क्योंकि मानुषानन्द से लेकर सोपानक्रम से गन्धर्व, देवगन्धर्व, कर्मदेव, आजानज देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति तथा ब्रह्मा के आनन्द में शतगुणित उत्तरोत्तर उत्कर्ष एवं ऊर्ध्वता है। एक बलवान्, विद्वान्, धर्मनिष्ठ, श्रोत्रिय, सर्वसौख्यसामग्रीसम्पन्न सप्तद्वीपाधिपति में मानुषानन्द की पूर्ति होती है। उससे शतगुणित आनन्द गन्धर्व को होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर शतगुणित आनन्द का उत्कर्ष होता है। परमानन्दरसात्मक भगवान् सर्वोपरि विराजमान हैं। उन्हीं में अनवधिक, अनतिशय आनन्द है। उन्हीं के एक तुषारकण से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादि देवशिरोमणियों को सौख्य की प्राप्ति होती है। वही अचिन्त्य, अनन्त परमानन्दरसात्मक भगवान् ऊर्ध्व हैं। वे ही संसार-वृक्ष के मूल हैं। इसीलिए श्रुतियों ने भी कहा है—

"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

आनन्द ही से यह विश्व उत्पन्न होता है, उसी में स्थित तथा विलीन भी होता है। यहाँ विश्व और विश्वमूल में अत्यन्त विलक्षणता दिखलाने के लिए विश्ववृक्ष की शाखाओं को नीचा और मूल को ऊँचा कहा गया है। लौकिक वृक्षों में शाखा ऊपर होती है, मूल नीचे होता है। उन से इस में विलक्षणता दिखलाना इष्ट है। यह विश्व जड़, दुःख, अनृत, विनश्वर है, परन्तु इस का मूल उससे सर्वथा विलक्षण सत्प्रकाश, सत्य, परमानन्दरूप है। जगत् की दुःखबहुलता में

यद्यपि किसी को विवाद नहीं, फिर भी उसकी अनृतता (मिथ्यात्व) में कुछ लोग विप्रतिपत्ति करते हैं। परन्तु जब आनन्द से दुःखात्मक प्रपञ्च की उत्पत्ति सम्भव है, तब परमसत्य से अनृतात्मक (मिथ्या) विश्व की उत्पत्ति में दोष क्या है? कहा जाता है कि जैसे सुवर्ण से उत्पन्न कटक, कुण्डल आदि सुवर्ण ही होता है, वैसे ही सत्य से उत्पन्न विश्व को सत्य ही होना चाहिए। परन्तु इस तर्क का बाध प्रत्यक्ष और श्रुति दोनों ही से होता है। देखते ही हैं कि घट की अपेक्षा सत्य (अबाध्य) मृत्तिका से मिथ्या (बाध्य) घट की उत्पत्ति होती है। बाध्यता ही मिथ्यात्व एवं अबाध्यता ही सत्यत्व है। घट की अपेक्षा मृत्तिका में अबाध्यता और उसकी अपेक्षा घट में बाध्यता भी प्रत्यक्ष ही है। इसीलिए श्रुति ने भी स्पष्ट शब्दों में मृत्तिका को ही सत्य बतला कर विकार को मिथ्या बतलाया है—

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।"

फिर कार्यों में उत्तरोत्तर सविशेषता, कारणों में उत्तरोत्तर निर्विशेषता की उपलब्धि देखकर यह मानना पड़ता है कि अत्यन्त निर्विशेष से सविशेष प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है। फिर तो कार्यकारण का विलक्षणता में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। अतएव कटक, कुण्डलादि भी कारणरूप से ही सुवर्ण हो सकते हैं। स्वतः वे मिथ्या हैं। फिर उनके सुवर्णत्व-असुवर्णत्व की चर्चा ही क्या? वैसे तो इधर भी यही कहा जाता है कि ब्रह्म से उत्पन्न समस्त विश्व ब्रह्म ही है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म है, किन्तु यही कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं ही है। इस पर यह सन्देह होता है कि अनृत, जड़, दुःखात्मक संसार

(अश्वत्थ (क्षयमङ्गुर विश्व) जिस स्वप्रकाश चैतन्यानन्द ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उस में परिणामादि कुछ विकार होते हैं या नहीं ! बिना मूल में कुछ विकृति पहुँचे वृक्ष की उत्पत्ति ही असम्भव है। परन्तु इसका बड़ा सुन्दर समाधान भागवत के एक श्लोक में मिलता है—

"त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्य्यते तथा ॥"

अर्थात्—हे नाथ ! इस विश्व के उत्पत्ति, स्थिति, संयम आप ही से कहे जाते हैं, परन्तु आप निर्गुण, निष्क्रिय एवं निर्विकार हैं। फिर भी आप के प्रकृतिविशिष्ट ऐश्वर रूप से प्रपञ्चोत्पत्ति आदि हो सकते हैं। इतने पर भी आपके निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप की अनीहता, निष्क्रियता, निर्विकारता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सारांश यह कि लौकिक कारण या मूल के समान वह ऊर्ध्व परिणामी नहीं है, किन्तु विश्वविवर्त का अधिष्ठान होने के कारण ही ऊर्ध्व को मूल कहा जाता है। जैसे सर्पविवर्त का अधिष्ठान होने के कारण रज्जु को सर्प का मूल कहा जाता है, वैसे ही विश्वविवर्त का मूल होने से ऊर्ध्व भगवान् को विश्व का मूल कहा जाता है। अर्थात् जैसे अज्ञान द्वारा रज्जु सर्प का मूल बनती है, उसी तरह अनादि, अनिर्वचनीय मूलाज्ञान या प्रकृति द्वारा ही शुद्ध परमात्मतत्त्व विश्व का मूल बनता है। जैसे भूमि, बीज, अङ्कुर, वृक्ष और फल यह पाँच स्थितियाँ होती हैं, वैसे ही शुद्धब्रह्म, कारणब्रह्म, हिरण्यगर्भ, विराट् और श्रीकृष्ण यह पाँच स्थितियाँ हैं। जैसे भूमि, बीज,

अङ्कुरादि सभी का सारतमभाव फल में होता है, वैसे ही शुद्धब्रह्म, कारणब्रह्म आदि सभी का सारतम भाव श्रीकृष्ण में है। इतना ही नहीं जैसे एक फल में ही अनन्तों बीज, अङ्कुरादि सम्भव हैं, वैसे ही एक श्रीकृष्ण में अनन्तों कारणब्रह्म, हिरण्यगर्भ आदि का होना भी सम्भव है। अतएव कहा गया है कि श्रीकृष्णचन्द्र के एक एक रोमकूपों में अपरिगणित ब्रह्माण्ड-परमाणुओं का निरन्तर परिभ्रमण होता रहता है—

"क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू
सवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥"

ठीक ही है, एक वटबीज से एक वृक्ष और उस वृक्ष से अपरिगणित फल, फिर उन्हीं से अपरिगणित बीजादि होते ही हैं। अस्तु, निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म भूमिस्थानीय है, प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्म बीजस्थानीय है। शुद्धब्रह्म विश्व-विवर्त्त (विश्वभ्रम) का अधिष्ठान होने से मूल है। प्रकृतिविशिष्ट कारण ब्रह्म विश्वात्मना परिणामी होने से विश्व का मूल है। आगे चलकर 'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि" इस श्लोक में कहे गये वृक्ष को सुदृढ़ करनेवाले छोटे छोटे अङ्गरूप मूल और भी हैं, जो कि यहाँ वासनारूप से विवक्षित हैं। असङ्गशस्त्र से वासनारूप मूलसहित इस वृक्ष को काटने के लिए कहा गया है—"असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा।" परन्तु इतने से ही बस नहीं है, क्योंकि मूलसहित वृक्ष को जबतक उखाड़ा न जाय, तबतक उसका अत्यन्त निर्मूलन नहीं हो सकता। अतएव "ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्" इस अंश से परमवैष्णवपद के साक्षा-

त्कार द्वारा इस संसारवृक्ष का समूलोन्मूलन कहा गया है। अर्थात् असङ्गता से ऊपर-नीचे फैली हुई वासनारूप जड़ के सहित संसारवृक्ष को काटकर परमात्मस्वरूप-साक्षात्कार द्वारा अज्ञान का उन्मूलन करके समूल संसार का उन्मूलन करना चाहिए।

गायत्र्यादि छन्द ही इस संसारवृक्ष के पत्ते हैं, अर्थात् वेदप्रकाशित कर्मों द्वारा ही यह संसार फलित, प्रफुल्लित होता है। जैसे पत्ते के बिना वृक्ष शुष्क एवं शोभाविहीन हो जाता है, वैसे ही वेदोक्त कर्मों के बिना संसार शोभाहीन होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ, तो लोग भी मेरा अनुकरण करेंगे, फिर साङ्कर्य होने से लोगों का नाश हो जायगा—

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्य्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥'

अतः स्पष्ट है कि वेदप्रकाशित कर्म ही विश्व के धारण, पोषण, अभ्युदय का हेतु है, इसलिए छन्द (वेद) ही इस संसारवृक्ष का रक्षक होने से पत्र है। ऐसे इस संसार अश्वत्थवृक्ष को लोग (मीमांसक प्रभृति) अव्यय (अविनाशी) कहते हैं।

यह संसार अश्वत्थ अर्थात् पिप्पल का वृक्ष है अथवा यह संसार अश्वत्थ—क्षणभङ्गुर—वृक्ष है। 'न श्वोऽपि स्थाता इत्यश्वत्थः' जो कल भी न रहे, वही अश्वत्थ कहा जाता है। दैनन्दिन प्रलय-सिद्धान्त के अनुसार प्रतिदिन सुषुप्ति में संसार का कारणमात्र में प्रलय होता है, पुनः प्रबोधकाल में नवतर संसार उत्पन्न होता है। अतः आज का संसारवृक्ष कलतक नहीं ठहर सकेगा, आज ही सायङ्काल में

इसका प्रलय हो जायगा, इसलिए यह संसार अश्वत्थ कहा जाता है। अथवा "न श्वोऽपि स्थातुमर्हः इत्यश्वत्थः" कल भी ठहरने योग्य न होनेवाला अश्वत्थ कहा जाता है। भले ही यह संसार लाखों वर्ष तक बना रहे, परन्तु इसकी योग्यता कलतक भी ठहरने की नहीं है। पानी का बुलबुलासा देखने में परममनोहर, परन्तु इसकी स्थिति की कोई आशा नहीं। जैसे रज्जु में कल्पित सर्प चाहे जितने दिन बना रहे, परन्तु उसकी स्थिति की योग्यता एक दिन की भी नहीं। जभी प्रकाश-सन्निधान से रज्जुस्वरूप का साक्षात्कार हो, तभी वह मिट सकता है। इसीतरह यह संसारवृक्ष भी जभी तत्त्वज्ञान से अज्ञान मिटे, तभी मिट सकता है, इसीलिए यह अश्वत्थ कहलाता है।

वृक्ष शब्द भी 'वृश्च छेदने' धातु से बनता है, अतः प्रतिक्षण छिद्यमान या दृष्टि-नष्टन्याय से क्षणभङ्गुर ही वृक्ष शब्द का भी अर्थ है। अतएव 'अव्ययं प्राहुः' से भगवान् संसार-अश्वत्थवृक्ष की अव्ययता में अस्वारस्य प्रकट करते हैं। अर्थात् कुछ लोग इस संसार को अव्यय कहते हैं, परन्तु भगवान् के मत से तो पूर्वकथनानुसार वह अश्वत्थ (क्षणभङ्गुर) है। अथवा ज्ञान के बिना यह अव्यय है अर्थात् किसी तरह मिटाये नहीं मिट सकता। दुःखरूप एवं उद्वेजक होने पर भी लक्षधा प्रयत्न करने पर भी इसका मिटना असम्भव है। यह भयानक भूत के समान सिर पर खड़ा ही रहता है। ज्ञान के बिना किसी तरह इसका अन्त नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयत्न किया जाय, इसीलिए इसकी अव्ययता कही गयी है। परन्तु, अव्यय कहने का यह आशय कदापि नहीं है कि ज्ञान से भी इसका अन्त नहीं

होता, क्योंकि ऐसी स्थिति में वृक्षत्व, अश्वत्थत्व आदि संसार में कभी नहीं घट सकेगा। फिर जब "असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा" इत्यादि वचनों से इसके छेदन करने का आदेश किया जा रहा है, तब इसकी तात्त्विक अव्ययता कहाँतक बन सकती है।

'इस समूल संसारवृक्ष को जाननेवाले समस्त वेद के रहस्य को जानकर मुक्त हो जाते हैं।' यहाँ यद्यपि संसार ज्ञान से वेदज्ञान नहीं कहा गया है, तथापि जैसे कार्य्य से कारण का बोध होता है, वैसे ही संसार-वृक्ष से उसके मूलभूत परमात्मा का ज्ञान विवक्षित है। जैसा कि श्रुतियों ने कहा है—

> "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ।
> अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ।
> तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ।"

अर्थात् पृथ्वीरूप अङ्कुर से उसके मूलभूत जल का पता लगाओ एवं जलरूप अङ्कुर से उसके मूल तेज का अन्वेषण करो और तेजरूप अङ्कुर से वायु, आकाशादि परम्परा से स्वप्रकाश सद्रूप कारण को ढूंढो। अतः संसाररूप अङ्कुर से स्वप्रकाश परमात्मरूप मूल का अन्वेषण करने से ही वेद-ज्ञान सम्भव होता है। यह विश्व के विज्ञान से वेदज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह समझना भी भूल है कि 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' के अनुसार वेद त्रैगुण्य संसार का ही प्रतिपादन करते हैं। अतः संसार के जान लेने से त्रैगुण्य संसार का प्रतिपादन करनेवाले वेदों का भी ज्ञान हो जाता है, क्योंकि संसार का यत्किञ्चित् ज्ञान तो सभी को होता है, अतः सभी को वेदवित् कहना होगा। यदि कहा जाय कि संसार का

सम्पूर्ण रूप से जानना ही वेदज्ञान का कारण है, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि बिना सर्वज्ञ परमेश्वर के अन्य किसी को भी सम्पूर्ण रूप से संसार का ज्ञान नहीं हो सकता। सहस्रों जन्मों के व्यतीत होने पर भी केवल संसारैकदेश वनस्पतियों का भी विज्ञान नहीं पूरा हो पाता। अनन्त नक्षत्रों, तारों, सिताओं का ज्ञान ही दुर्गम है, तो फिर अनन्तवैचित्र्योपेत विश्व का ज्ञान कैसे सम्भव है! अतएव श्रुतियों ने प्रत्येक तत्त्वों के ज्ञान को असम्भव मानकर ही एक के विज्ञान से सर्व-विज्ञान की बात उठायी है—

"एकस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"।

जैसे एक मिट्टी के जानने से घट, शरावादि जाने जाते हैं, सुवर्णपिण्ड के जानने से कटक, कुण्डलादि जाने जाते हैं, वैसे ही एक मूलकारण परमात्मतत्त्व के जानने से सारा विश्व जाना जाता है। भगवान् ही समस्त वेदार्थ हैं। कर्मकाण्डपरक वेदों का ही अवान्तर तात्पर्य त्रैगुण्य संसार में है, महातात्पर्य तो उनका भी परब्रह्म ही में है। भगवत्स्वरूप-साक्षात्कार में अपेक्षित अन्तःकरणशुद्धि के लिए तत्साधनीभूत कर्मकाण्ड का विधान करके त्रैगुण्य प्रतिपादक कर्मकाण्डपरक वेद भी ब्रह्म में ही पर्य्यवसित होते हैं। उपासना-ज्ञानपरक वेद तो साक्षात् ही ब्रह्म में पर्य्यवसित होते हैं। वस्तुतस्तु जिन्हें उपक्रमोपसंहारादि लिङ्गों से वेदों का तात्पर्य्य समझा नहीं, जिनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि स्थिर नहीं है, उन्हीं की दृष्टि में वेद त्रैगुण्यविषयक हैं। जिनकी व्यवसायात्मिका प्रज्ञा स्थिर हो चुकी है, उनके लिए तो सब वेदों के परमार्थ भगवान् ही हैं—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।" अतएव संसारवृक्ष द्वारा परब्रह्म को जानने से ही वेदवित् होना

सम्भव है। यह विश्व जिसमें उत्पन्न, स्थित और लीन होता है, उसे सर्वप्रकाशक सर्वाधिष्ठान भगवान् के बोध से ही पूर्ण वेदज्ञता होती है।

कहीं इसे कुपलाशवृक्ष, कहीं पिप्पलवृक्ष, कहीं वटवृक्ष भी कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि वटवृक्ष के ही ऊपर से नीचे की ओर उलटे पाये होते हैं। कोई गूलरवृक्ष से संसार का उपमान करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

"गूलरतरु कृपालु तव माया, लागे फल ब्रह्माण्ड निकाया।
तेहि फल-भक्षक काल कराला, तब डर डरत रहत सोउ काला।"

कठोपनिषद् में इसको अश्वत्थ ही कहा है—

'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥'

कुछ लोग अश्वत्थ के 'न श्वोऽपि स्थाता' इत्यादि उपर्युक्त अर्थों को इसलिए अनुचित समझते हैं कि इस अश्वत्थ को अव्यय तथा अमृत कहा गया है। अव्यय एवं अमृत वृक्ष क्षणभङ्गुर या कलतक न रहनेवाला कैसे कहा जा सकता है? अतः पितृयाणकाल में अग्नि अथवा यज्ञ प्रजापति अश्व रूप धारणकर पिप्पलवृक्ष में रहता है। इसलिए अश्वस्थान होने के कारण ही अश्वत्थ कहा गया है (म० भा० अनु० ८५)। कुछ नैरुक्तिकों के अनुसार पितृयाण की लम्बी रात्रि में सूर्य्य के अश्व यमलोक में पिप्पलवृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं, अतः इसे अश्वत्थ कहा जाता है। उन लोगों का यह अर्थ यद्यपि पिप्पलवृक्षमात्र के लिए उचित ही है, तथापि संसाररूप अश्वत्थवृक्ष में यह अर्थ सङ्गत नहीं है। अतः संसार में प्रयुक्त अश्वत्थ और वृक्ष दोनों का उपर्युक्त व्याख्या-

नुसार कल न रहनेवाला या क्षणभङ्गुर तथा छिन्न होनेवाला यही अर्थ लेना चाहिए। रूपक के साथ साथ यदि शब्दार्थ भी संसार से सङ्गत हो, तो बोध में और भी सुविधा होती है।

रहा यह कि फिर क्या इसे अव्यय एवं अमृत नहीं कहा जा सकता ? तो उत्तर है नहीं, क्योंकि गीता के श्लोक के अव्यय शब्द का अभिप्राय पहले दिखलाया जा चुका है। काठक के अमृत पद की सार्थकता उसकी मूलभूत ब्रह्मदृष्टि से ही है। अर्थात् बाधसामानाधिकरण्य से संसारवृक्ष को शुद्ध ब्रह्म एवं अमृतरूप बताया जाता है। संसार की जड़ता, विनश्वरता स्पष्ट ही है, फिर इसे शुक्र, अमृत कैसे कहा जा सकता है ? अतः श्रुतियों ने संसार को कहीं मिथ्या और कहीं ब्रह्मरूप कहा है, परन्तु एक ही संसार मिथ्या और ब्रह्मरूप कैसे होगा ? इस प्रश्न का समाधान यही है कि जैसे रज्जुकल्पित सर्प स्वरूप से मिथ्या है, पर अधिष्ठानरूप से ब्रह्म कहा जाता है, वैसे ही दुःख जड़ जगत् को स्वप्रकाशानन्दरूप ब्रह्म इसी दृष्टि से कहा जा सकता है। इसीलिए शास्त्रों ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि स्थलों में मुख्य सामानाधिकरण्य न मानकर बाधसामानाधिकरण्य माना है। जहाँ मुख्य अभेद या एकता सम्भव होती है, वहाँ मुख्य सामानाधिकरण्य होता है। जैसे 'सोऽयं देवदत्त' या 'तत्त्वमसि'। यहाँ परोक्ष अपरोक्ष देवदत्त का एवं जीवात्मा परमात्मा का मुख्य अभेद या एकता सम्भव है। परन्तु, अनित्य, जड़ जगत् एवं स्वप्रकाश, नित्य परमात्मा की एकता या अभेद अत्यन्त असम्भव है। अतः यहाँ बाधसामानाधिकरण्य माना जाता है, अर्थात् काल्पनिक जगत् को बाधित करके उसे अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप ही

बतलाया जाता है—जैसे "योऽयं स्थाणु पुमानेवः"। किसी को पुरुष मे स्थाणुबुद्धि हुई हो, तो उससे कहा जाय कि वह स्थाणु पुमान् है अर्थात् जिसे तुमने स्थाणु समझा है, वह स्थाणु नहीं किन्तु पुमान् है, वैसे ही, साधक से कहा जाता है कि यह संसारवृक्ष शुद्ध, अमृत ब्रह्म है अर्थात् जिसे तुम संसार समझ रहे हो, वह संसार नहीं किन्तु शुद्ध अमृत ब्रह्म ही है। वह भ्रान्ति से ही पुरुष स्थाणु के समान संसाररूप में प्रतीत होता है। यह स्थिति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि की है। यही "तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म" की है। सारांश यह है कि संसारवृक्ष को मूलभूत ब्रह्म की अपेक्षा से ही शुद्ध एवं अमृत कहा गया है। अन्यथा यदि यह स्वरूप से ही शुक्र, अमृत ब्रह्मरूप हो, तो उसके काटने और उन्मूलन करने की क्या आवश्यकता? फिर तो यह स्वयं ही स्वरूप है। उसके नाश का उपदेश और प्रयत्न अनभिज्ञता ही समझी जायगी।

महाभारत में एवं पुराणों में इसी का और सविस्तार वर्णन किया गया है—

"अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः।
बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥
महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा।
धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥
आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।
एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति नित्यशः॥
एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना।
ततश्चात्मरतिं प्राप्य तस्मान्नावर्तते पुनः॥"

मायाशक्तिमत् अव्यक्त ब्रह्म से इस वृक्ष की उत्पत्ति है। उसी के अनुग्रह से इसका उत्थान है। बुद्धि इसके स्कन्ध, इन्द्रियाँ कोटर, महाभूत अवान्तर शाखाएं हैं, विषय ही इसके पत्ते, धर्म-अधर्म ही इसके फूल और सुख-दुःख ही इसके फल हैं। यह ब्रह्मवृक्ष सनातन है, देहादि-सन्तान का आश्रय होने से यह अनादि एवं ज्ञान के बिना अन्त नहीं होता, अतः यह अनन्त है। ऐसा यह अनादि-अनन्त संसारवृक्ष सनातन वृक्ष है। यही समस्त भूतों का आश्रय एवं आजीव्य है। इस महावन में सदा ही ब्रह्म विहार करता है। इसे ज्ञान की तलवार से छिन्न-भिन्न करके आत्मरति द्वारा ज्ञानी पुरुष पुनरावृत्तिशून्य परमपद को प्राप्त करते हैं। श्रीभागवत में भी ऐसा ही वचन है—

"एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदो द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥
त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च।"

अर्थात् इस संसारवृक्ष का एक परमात्मा ही आश्रय है। सुख-दुःख फल हैं। सत्त्व, रज, तम तीन इसकी अवान्तर जड़ें हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थ रस हैं। इस शरीर को भी वृक्ष कहा जाता है, इस पर भी जीव और परमात्मा रूप दो सुपर्णों का निवास है। एक का कर्मफलरूप पिप्पल का भोगना और दूसरे का केवल प्रकाशन करना कहा गया है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।"

'अधश्चोर्ध्वं' इत्यादि अगले श्लोक में भी इसी वृक्ष के सम्बन्ध में कुछ और बातें कही गयी हैं। इस संसारवृक्ष को मनुष्य से नीचे वृक्ष-

पाषाणान्त और ऊपर ब्रह्मलोकान्त शाखाएँ कर्म और उपासना के अनुसार फैली हुई हैं अर्थात् जैसे वृक्ष में नीचे और ऊपर की ओर शाखाएं फैली होती हैं, वैसे ही इस संसार में मनुष्यादि स्थावरान्त योनियाँ कर्मानुसार नीचे और मनुष्यादि ब्रह्मान्त योनियाँ कर्मो-पासना के अनुसार ऊपर फैली हैं। ये शाखाएँ उपादानभूत सत्त्व, रज, तम आदि गुणों से मोटी हो रही हैं अर्थात् गुणों की ही महिमा से उच्चावच सभी प्राणियों का पूर्ण विस्तार हो रहा है। शब्द-स्पर्शादि विषय ही इन शाखाओं से फूटनेवाले पल्लव हैं अर्थात् जैसे शाखा से पल्लव व्यक्त होते हैं, वैसे ही कर्मफलभूत देहों से ही अनेक प्रकार के विषयों का उपलम्भ या भोग होता है। इस संसार का परममूल, उपादानकारण तो ब्रह्म ही है, परन्तु धर्माधर्मरूप कर्मप्रवृत्ति के कारण कर्म-फलजनित रागद्वेषादि वासनाएँ इस संसारवृक्ष की अवान्तर जड़ें हैं। इस मनुष्यलोक में बढ़ती बढ़ती वे बहुत नीचे गहराई में पहुँच गयी हैं अर्थात् जैसे मूल जड़ से भिन्न अवान्तर जड़ भी वृक्षस्थिति के लिए बहुत गहराई तक पहुँच जाती हैं, वैसे ही परब्रह्म के अतिरिक्त कर्मफल सुखदुःखादिभोगजन्य रागद्वेषादि वासनाएं इस वृक्ष की अवान्तर मूल (जड़ें) हैं और वे विशेष रूप से इस मनुष्यलोक में बहुत गहराई तक पहुँची हैं। उन्हीं के कारण यह संसारवृक्ष अधिक दृढ़ बना रहता है, क्योंकि सुखदुःखभोगजनित रागद्वेषादि वासनाओं से ही आगे धर्मा-धर्म की प्रवृत्ति होती है। सुख एवं तत्साधनों के राग से प्रेरित होकर सुख, तत्साधन प्राप्त्यर्थ कोई शास्त्रोक्त अग्निहोत्रादि करते हैं, कोई शास्त्र-विपरीत परवित्त-कलत्रादि के अपहरण में ही प्रवृत्त होते हैं। वैसे ही दुःख,

तत्साधनों के द्वेष से तत्परिहारार्थ कोई शास्त्रोक्त कर्म का अनुष्ठान करते हैं, कोई शास्त्रविरुद्ध अधर्म करते हैं। धर्माधर्म से पुनः सुखदुःखभोग, उससे पुनः रागद्वेषादि वासना, उससे पुनः धर्माधर्म, इस तरह घटीयन्त्रवत् यह परम्परा अविच्छिन्न रहकर संसार को दृढ़ अविचल रखती है और किसी तरह के वायु से संसार को उखड़ने नहीं देती। यहाँतक कि ये वासनाएँ ज्ञान, असङ्गता आदि द्वारा काटने में भी विघ्न डालती हैं। यद्यपि ये वासनाएँ देवलोक में भी हैं, तथापि धर्माधर्म प्रवृत्ति कारण रागद्वेषादि वासनाएँ विशेषरूप से मनुष्यलोक में ही हैं। ये धर्माधर्म के कारण होने से भी मूल हैं।

इस विलक्षण संसारवृक्ष का यह यथावर्णित स्वरूप सम्यक् विचार करने से उपलब्ध नहीं होता। जैसे स्वप्न, माया, गन्धर्वनगर आदि अनेक वैचित्र्योपेत होते हुए भी विचार करने पर उपलब्ध नहीं होते, परन्तु अधिष्ठान साक्षात्कार होते ही चाहे कैसी भी विलक्षण कल्पना क्यों न हो, उसके नाश में विलम्ब नहीं होता, वैसे ही अधिष्ठानात्मक परब्रह्म का विचार एवं दर्शन करते ही इस संसारवृक्ष का वैसा स्वरूप नहीं उपलब्ध होता, जैसा कि ऊपर वर्णित है अर्थात् विचार से तो वह शुद्ध शुक्र अमृत ब्रह्मरूप ही हो जाता है, स्वतन्त्र सत्ता सर्वथा विलीन हो जाती है—

"जेहि जाने जग जाइ हेराई, जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई।"

अर्थात् यह दृष्टनष्टस्वरूप है इसकी आदि, अन्त एवं प्रतिष्ठा भी नहीं मिलती। स्वप्न, मनोराज्य, कल्पना की क्या उत्पत्ति, क्या स्थिति, क्या अन्त! यहाँ प्रतिष्ठा का अर्थ स्थिति है, आधार या अधिष्ठान नहीं,

क्योंकि एक ब्रह्म इसका अधिष्ठान मान्य ही है। अन्यथा "असत्यम-प्रतिष्ठन्ते" इत्यादि अगले श्लोक से अवश्य विरोध होगा। अस्तु, जैसे जागने पर स्वप्न की उत्पत्ति, स्थिति, अन्त कुछ भी नहीं ज्ञात होता, वैसे ही तत्त्वविवेचन करने पर विश्व की स्थिति होती है। अतः यह अनिर्वचनीय है। परन्तु विचार विज्ञान के विना यह इतना दुरूह है कि इस का आदि, अन्त, मध्य कुछ भी नहीं ज्ञात होता। बड़े बड़े विशिष्ट पुरुषों ने इसका ओर-छोर, आदि अन्त पाना चाहा, परन्तु न पाया। हजारों वर्षतक ब्रह्मा ने इसका मूल ढूंढा, परन्तु न मिलने पर उन्हें लाचार होकर लौटना पड़ा। 'योगवाशिष्ठ' के चारों विपश्चितों ने लाखों युगों एवं कल्पोंतक दिव्य गति एवं शक्ति से इसका ओर छोर जानना चाहा, परन्तु अन्त में उन्हें भी हताश होना पड़ा। वशिष्ठजी का कहना है कि परमाणु का पञ्चम अंश स्पर्शतन्मात्रा है, उसके सहारे वायु और उसमें प्राण रहता है। प्राण में मन और मन में विश्व रहता है। फिर विश्व में अनन्तों मन, एक एक मन में विश्व, इस तरह मनोमय विश्व का आदि अन्त किसको मिल सकता है! जब वटबीज से विशाल वृक्ष और उससे अनन्त बीज उत्पन्न होते हैं, तब उन बीजों में अनन्त वृक्षों का होना ठीक ही है। इस तरह जब एक बीज ही में अनन्त वृक्ष ठहरते हैं, तब मायामय विश्व का अन्त कैसे मिले! इस संसारवृक्ष की राग-द्वेषादि वासनारूप जड़ों ने बहुत फैलकर इसे दृढ कर दिया है। इस वृक्ष को दृढ़ असङ्ग शस्त्र से छेदन करके तब परमात्मपद का अन्वेषण करना चाहिए। पुत्र, वित्त, लोक की एषणाओं का त्याग ही असङ्गता है। इसी असङ्गता से राग द्वेषादि वासना-मूलों के सहित यह संसार-

वृक्ष काटा जा सकता है। परन्तु अदृढ शस्त्र से यह वृक्ष और इसके मूल नहीं कट सकते। अतः भगवान् की अभिमुखता (भगवत्परायणता), भगवद्भजन से सर्वेषणात्यागरूप असङ्गशस्त्र को सुदृढ बना लेना चाहिए।

यहाँ यह शङ्का होती है कि जिस समूल संसार को जानने से वेदवित् होकर मुमुक्षु कृतार्थ हो जाता है, उस समूल वृक्ष का उन्मूलन कैसे किया जाय और वह सम्भव भी कैसे है? यदि समूल संसारवृक्ष का उन्मूलन न करके केवल असङ्गशस्त्र से मूल को छोड़कर काटना ही पर्याप्त है, तो वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि वह सुखरूप है, तो काटा ही क्यों जाय? यदि कहा जाय कि मूल ही सुखरूप है, उस मूल के जानने में ही तात्पर्य और पुरुषार्थ है। नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा आदि तो अनर्थरूप होने के कारण काटने ही योग्य हैं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मूलोच्छेद के विना पुनः नाल, स्कन्ध, शाखा आदि के उत्पन्न होने की सम्भावना बनी रहेगी। अतः समूल संसारोच्छेद किये विना समूल दुःख का उच्छेद न हो सकेगा। यदि समूल संसार का भी उच्छेद माना जाय, तो भी असङ्गशस्त्र से संसारवृक्ष के काट देने पर भी परमात्मपद का अन्वेषण क्यों किया जाता है? दुःखात्मक संसार के कट जाने पर ही यदि समूल दुःखोच्छेद हो गया, तो फिर परमपद के अन्वेषण की क्या आवश्यकता? इसका समाधान यही है कि समूल संसार के ज्ञान में अणुभर भी वेदार्थ का ज्ञान बाकी नहीं रहता, फिर भी मूलभूत ब्रह्म के ही ज्ञान में पुरुषार्थ और शास्त्रों का तात्पर्य है। मूल ही परमसुखरूप है, तद्भिन्न अंश तो परमात्म-ज्ञान में सहायक होने से ही ज्ञानार्थ उपादेय है। संसार

स्वतः दुःखरूप है, अतः अन्ततोगत्वा उसका उन्मूलन ही अभीष्ट है। असङ्गता और अधिष्ठान के साक्षात्कार द्वारा इसका समूलोन्मूलन उचित और सम्भव है। "अब मुझे संसार से उपरत होकर पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् को ही प्राप्त करना है" ऐसे दृढ़ निश्चय से उस असङ्गता की दृढ़ता हो जाती है। सारासार-विवेक के अभ्यासरूप पत्थर पर इस असङ्ग-शस्त्र को खूब तीक्ष्ण बनाकर सबीज संसारवृक्ष को काट या उखाड़कर फिर पूर्णरूप से परमात्मपद का अन्वेषण तथा साक्षात्कार करना चाहिए। यह ठीक है कि समूलोच्छेद किये बिना फिर भी इसके उद्भूत होने की सम्भावना बनी रहेगी, अतः इसका समूल ही उच्छेद होना चाहिए। फिर भी यहाँ सन्देह हो सकता है कि इस वृक्ष का परममूल ब्रह्म अच्छेद्य एवं अनुच्छेद्य है. फिर उसका उन्मूलन किस तरह हो सकेगा? बिना उसका उच्छेद हुए संसार का समूलोच्छेद कैसे होगा और बिना समूलोच्छेद के संसारभय का आत्यन्तिक उच्छेद कैसे होगा? परन्तु इसका समाधान यह है कि केवल शुद्ध ब्रह्म इस जगत् का मूल नहीं है, किन्तु अज्ञान या माया द्वारा ही वह विश्व का मूल है। अतः शुद्ध ब्रह्म अनुच्छेद्य होने पर भी प्रकृतिविशिष्ट ब्रह्म ही मूल है, इसलिए प्रकृति, अज्ञान या माया का उच्छेद होने से मायाविशिष्ट का भी उच्छेद हो सकता है। जैसे, पुरुष के बने रहने पर भी केवल दण्डाभाव के कारण 'दण्डी पुरुष नहीं है' ऐसा व्यवहार होता है किंवा शिखामात्र के ध्वंस से पुरुष के बने रहने पर भी 'शिखी ध्वस्त.' (शिखी ध्वस्त हो गया) ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही अज्ञान के उन्मूलनमात्र से ब्रह्म तत्त्व के बने रहने पर भी 'अज्ञान-विशिष्ट मूल नष्ट हो गया, ऐसा व्यवहार बन सकता है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति या अज्ञान के द्वारा ही शुद्ध ब्रह्म

विश्ववृक्ष का मूल बनता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। जिस तरह अज्ञान द्वारा रज्जु सर्प का मूल बनती है, वैसे ही अनन्य, अस्तत्य, परमानन्द कूटस्थ ब्रह्म अज्ञान द्वारा विश्व का मूल बनता है। जैसे शुद्ध रज्जु का बोध होने से अज्ञानसहित सर्पनाश से ही समूल सर्प का नाश कहा जाता है, वैसे ही विश्ववृक्ष के द्वारा विश्वाधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म का बोध होने से अज्ञानसहित *विश्व का उन्मूलन* और उससे ही समूल विश्व का उच्छेद कहा जाता है। साधिष्ठान विश्व के ज्ञान में विश्व द्वारा शुद्ध ब्रह्म का भी बोध हो गया, अतः वेदवित् भी बन गया। अधिष्ठान परमानन्द-स्वरूप है, अतः उसका बना रहना ही ठीक है। उसमें अज्ञानरूप विशेषण नहीं है, अतः अब उससे संसार का *प्रादुर्भाव न होगा*। सारांश यह हुआ कि विश्व विवर्त्ताधिष्ठानरूप मूलयुक्त संसार के ज्ञान से वेदवित् हुआ जाता है। विश्वात्मना परिणामी अज्ञानविशिष्ट रूप का अज्ञाननाश से नाश होता है। अतः समूल संसार का उच्छेद भी हो जाता है। पहले असङ्गता से रागादिवासनासहित संसार को काट देने से (त्याग या विस्मृत कर देने से) अधिष्ठान के बोध में सुविधा होती है। अतः असङ्गता से संसार को मन से निकालकर, समाधि में अधिष्ठान-साक्षात्कार द्वारा अज्ञान का नाश करके मूल को नाश किया जाता है। इसलिए काटने के बाद परमपद के ढूँढ़ने की बात कही गयी है। अथवा 'छित्वा' का अर्थ 'उद्धृत्य' है। 'अन्वेष्टव्यं' का 'प्राप्तव्यं' अर्थ है। इस तरह अधिष्ठान-साक्षात्कार एवं त्यागरूप असङ्गता द्वारा समूल संसारवृक्ष का उद्धरण करके परमात्मपद को प्राप्त करना चाहिए। यह सब कुछ भगवत्प्रपत्ति-मूलक है, अतः इसके लिए भगवत्प्रपन्न होना चाहिए (सिद्धान्त १।२३)।

मानस-निरोध

प्रायेण यह प्रश्न हुआ करता है कि साधारण स्थिति में मन कुछ शान्त भी रहता है, परन्तु भगवान् का ध्यान, स्मरण या मन्त्रजप करते समय तो वह और भी चञ्चल हो उठता है। जिन वस्तुओं और कार्यों का साधारण दशा में स्मरण भी नहीं होता, वे भी जपादि के समय आ उपस्थित होते हैं। अतः मनोनिरोध की दृष्टि से तो ऐसा जान पड़ता है कि जप, ध्यानादि न करना ही श्रेष्ठ है। निःसन्देह ऐसी स्थिति होती है, परन्तु इस में भी जप पर अधिक विश्वास करना उचित है। जो लोग यह कहते हैं कि ध्यान, जप आदि से कुछ नहीं होता, उन की अपेक्षा उन में विशेषता है, जो जप, ध्यान आदि में चञ्चलता की वृद्धि का अनुभव करते हैं। यदि अलौकिक हेतुओं से अनिष्ट होता है, तो उन से इष्ट की भी सम्भावना की जा सकती है। जिस कार्य्य से कुछ होता है, उसी पर विश्वास होता है। जप, ध्यान, स्मरण से मन की चञ्चलता बढ़ने पर साधक को चाहिए कि उत्साह-भङ्ग न होने दे, अधिक तत्परता से जप, ध्यान करे और मन की चञ्चलता से अपने साधन की सफलता और प्रभावकारिता पर विश्वास लावे। जैसे अतिचञ्चल बन्दर भी तबतक शान्त रहता है, जबतक उस के ग्रहण या बन्धन का उपक्रम न किया जाय, किन्तु ग्रहण या बन्धन का उपक्रम होते ही फिर उस की चञ्चलता का पता लगता है। इसीतरह अतिचञ्चल मन भी तबतक कुछ शान्त रहता है, जबतक भजन, ध्यान द्वारा उस के निरोध का प्रयत्न नहीं किया

जाता, परन्तु साधक जैसे ही उस के निरोध या नाश के लिए भजन, ध्यान का आरम्भ करता है, वैसे ही मन व्याकुल होकर अपने आप को बचाने के लिए पलायन करने (भागने) लगता है। अतः मन का भागना देखकर साधक को समझना चाहिए कि मन पर हमारे साधन का प्रभाव पड़ा है, वह आत्मनिरोध या आत्मनाश के भय से भाग रहा है, यह नहीं कि वह हमारे साधनों को कुछ समझता ही न हो और उसकी उपेक्षा करता हो। अब यदि हम सावधानी और तत्परता से भजन, ध्यानादि साधनों का अनुष्ठान करते जायँगे, तो वह भागते-भागते परिश्रान्त होकर पकड़ में आ सकेगा। ग्रहण या निरोध का प्रयत्न न करने पर, जैसे बन्दर निश्चिन्त होकर बैठ जाता है, वैसे ही ध्यान, भजन छोड़ देने पर मन भी निश्चिन्त हो जाता है। जैसे मक्षिकाएं अपवित्र पदार्थों पर बड़े चाव से बैठती हैं, परन्तु चन्दन, पुष्पादि दिव्य पदार्थों पर नहीं बैठतीं, दीपशिखा पर तो आत्मनाश के भय से कदापि बैठना ही नहीं चाहतीं, वैसे ही मन भी अपवित्र बाह्य विषयों में आसक्त होता है, क्योंकि वहाँ उसकी वृद्धि होती है, परन्तु सात्त्विक आश्रयों से एवं भगवान् के स्वरूप, गुण, लीला, नाम आदिकों के स्पर्श से वह डरता है, अतएव भजन, ध्यान से वह पूर्ण प्रयास के साथ भागना चाहता है, फिर भी मन जीव का करण (ज्ञानादि का साधन) है, अतः उसे बारबार बाह्य विषयों से हटाकर, भगवत्स्वरूप-गुण चरित्रादि-प्रतिपादक सद्ग्रन्थों के श्रवण, मनन, मन्त्रजप एवं स्वरूप-ध्यान में लगाने से वह शनैः शनैः वश में आ सकेगा—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।"

वस्तुतः मनोनिरोध-प्रसङ्ग तो बहुत पीछे उठना चाहिए, प्रथम तो मन की मनन परम्परा एवं विचारधारा सात्त्विक हो, इसी पर अधिक जोर देना चाहिए। जैसे गङ्गा आदि सरिताओं के प्रवाहों को परावर्तित कर उनको उद्गमस्थान में पहुँचाकर सुखा डालना अतिदुष्कर है, वैसे ही मन के अनन्त वृत्तिप्रवाहों को अत्यन्त रुद्ध करना भी अतिदुष्कर है। प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति इन पञ्चविध वृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध निर्विकल्प समाधि में ही होता है। प्रथम तो अक्लिष्टा या सात्त्विकी वृत्तियों का अवलम्बन करके क्लिष्टा अर्थात् राजसी, तामसी वृत्तियों का निरोध करना चाहिए। उसके भी पहले देह एवं इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता का निवारण करना चाहिए। तदर्थ वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान परमावश्यक है। योगशास्त्र में भगवत्पादपङ्कजसमर्पणबुद्ध्या स्वधर्मानुष्ठान चित्तनिरोध का साधन माना गया है। देह, हस्त, पाद, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की चपलता का मिटाना कठिन है। इसीलिए शास्त्रों ने कहा है—

"योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तसेवनम्॥"

अर्थात् मौन, अपरिग्रह, निराशा, निरीहा (निश्चेष्टता), एकान्तसेवन आदि योग के प्रथम द्वार प्राप्त कर लेने पर भी बहुत कुछ शान्ति प्राप्त हो जाती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, इन यम नियमों का अनुष्ठान निरोध के सभी तीन उपायों की अपेक्षा बहुत सरल है, परन्तु इनके अभ्यास से ही प्राणी को योग के प्रत्यक्ष चमत्कार अनुभूत होने लगते हैं। वस्तुतः

आजकल लोगों में कहने, सुनने, समझने की ही परिपाटी अवशिष्ट रह गयी है, अनुष्ठान-परम्परा लुप्तसी हो गयी है। योगशास्त्र की सम्मति है कि साधक को किसी भी योग की भूमिका का अभ्यास होने से ऊपर की भूमिका का मार्ग अपने आप विदित हो जाता है। अतएव योग ही योगी का गुरु होता है। यम, नियम, आसन का अभ्यास होने से प्राण की गति में सूक्ष्मता अपने आप होती है। साधारण रीति से भी प्राणायाम करने से चित्त के चाञ्चल्य का अभाव और धारणा की योग्यता हो जाती है। इसतरह अच्छे पुरुषों तथा ग्रन्थों के सङ्ग एवं अभ्यास से और सात्त्विक वातावरण में रहने से देह, इन्द्रियों की सभी चेष्टाएं सात्त्विक ही होती हैं, फिर सद्विचारों एवं सत्सङ्कल्पों से सद्भावना और सत्कर्मों की वृद्धि होती है, फिर उससे प्राणी का जीवन ही मङ्गलमय हो जाता है। वस्तुतः दुराचार, दुर्विचार एवं दुर्भावना ही सर्वानर्थ का मूल है। यदि सत्सङ्ग, सच्छास्त्राभ्यास एवं समीचीन वातावरण सेवन द्वारा सदाचार, सद्विचार की सद्भावना से उनका बाध किया जा सका, तब तो निर्विकल्प समाधि भी दूर नहीं है। उसके बिना तो सब कुछ दुर्लभ ही है। यद्यपि ऊँचे-ऊँचे साधनों के लिए सभी लोग लालायित होते हैं, तथापि इस सुगम, किन्तु अतिदिव्य साधन की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है।

यह स्पष्ट है कि एक सङ्कल्प या विचार से दूसरे सङ्कल्प या विचार का बाध होता है। मन में जभी कुत्सित सङ्कल्प उठें, शीघ्र ही उन्हें सद्विचार या सङ्कल्प से दूर किया जा सकता है। भगवद्ध्यान, भगवन्नामजप, भगवत्स्मरण या भगवच्चरित्रचिन्तन से दुर्विचार, दुर्भावना या

निरर्थक प्रपञ्च-चिन्तन का बाध सरलता से हो सकता है। भगवान् की लीलाओं एवं चरित्रों के रसास्वादन में आसक्त होते ही मन से असत्य भावनाओं का निकलना स्वाभाविक है, नहीं तो सत्समागम से, सत्सङ्ग से तो अवश्य ही अन्य भावनाएँ मिटती हैं। ऐसा न हो सके, तो भी मनोरञ्जक अन्य कथानकों या पुस्तकों से अवश्य ही मन को असद्विचारों एवं असद्भावनाओं से रोकना चाहिए। विचार, सङ्कल्प या भावनाएँ मनुष्य के पास ऐसे दुर्लभ पदार्थ हैं, जिन से प्राणी अपना कल्याण और सर्वनाश, दोनों ही कर सकता है। कुत्सित एवं असद्विषयों के विचार या भावना से प्राणियों के मन की शक्ति क्षीण हो जाती है। भगवान् की मायाशक्ति का अंश ही जीव की मन-शक्ति है। जैसे भगवान के सङ्कल्प में विचित्र प्रपञ्च के निर्माण करने की शक्ति होती है, वैसे ही उन के अंशभूत जीव के भी सङ्कल्प में विचित्र शक्ति होती है, परन्तु जब असद् वस्तु के चिन्तन से विमुख करके वह सात्त्विक पदार्थों एवं भगवान् में ही नियत की जाय, तभी उस का प्रभाव फलित होता है। सद्भावना से अन्तरात्मा का आप्यायन और असद्भावना से ह्रास होता है। अतएव पहले सात्त्विकी भावनाओं का आश्रयण करके राजसी, तामसी भावनाओं के निरोध पर ही अधिक जोर दिया जाता है। जैसे गङ्गा का प्रवाह सुखाने में अधिक कठिनाई होने पर भी प्रवाह का मुख स्वाभिमत दिशा की ओर फेर लेना दुष्कर नहीं है, वैसे ही मनोभावना को रोक देने की अपेक्षा उसे अपने अनुकूल बना लेना सरल है। बन्दर की चञ्चलता दूर करने में पहले उस के लिए एक उद्यान में भटकने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, फिर एक वृक्ष में, फिर एक शाखा में, एवंक्रमेण उसे निश्चल

बनाया जा सकता है। वैसे ही मन को भी प्रथम अनेक सात्त्विक पदार्थों के चिन्तन में स्वतन्त्रता होनी चाहिए, फिर शनैः शनैः सूक्ष्म-सूक्ष्म विषयों में स्थिति का प्रयत्न भी सार्थक हो सकता है। इसलिए निर्गुणोपासकों को पहले स्थूलप्रपञ्चाभिमानी अव्याकृत की पूर्ण उपासना कर लेने के पश्चात् कार्य-कारणातीत, परमसूक्ष्म, तुरीय ब्रह्म के चिन्तन में योग्यता तथा अधिकार प्राप्त होता है। सगुणब्रह्मोपासकों के लिए भी सर्वकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वगन्धत्व, सर्वरसत्व, भामनीत्वादि अनन्त गुणगणों का चिन्तन विहित है। सगुण एवं साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म के उपासकों के लिए भी इसी तरह अनन्त चरित्रों, गुणों एवं नामों का अनुसन्धान विधिविहित है।

मन का स्वभाव है कि वह विषयों के चिन्तन से विषयों में फँसता है और भगवान् का चिन्तन करते-करते उन्हीं में आसक्त हो जाता है—

"विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषये तु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥"

रूक्ष से रूक्ष विषय का भी चिन्तन करने से उस में सङ्ग, आसक्ति एवं राग हो जाता है—

"ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।"

मन को पहले विस्तृत बृहत् विषय में स्थिर किया जाता है। भगवान् के स्वरूप, गुण, नाम, चरित्र का चिन्तन करते-करते मन की चञ्चलता शान्त हो जाती है, फिर सच्चिदानन्दघन भगवान् के मधुर, मनोहर स्वरूप में चित्त स्थिर किया जा सकता है। उस में भी स्वरूपचिन्तन से

चञ्चल होने पर मन्त्रचिन्तन, उस से भी उपरत होने पर गुण या चरित्र का चिन्तन करना चाहिए। पुनः शान्त होने पर स्वरूपानुसन्धान करना होता है।

"स्वाध्यायाद्योगमाप्नोति योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥"

जैसे गज युक्ति एवं अङ्कुश से ही वश होता है, वैसे ही मन भी युक्ति से ही वश में होता है। चरित्र, नाम और स्वरूपानुसन्धान की महिमा से मन में भगवान् की मधुर मूर्ति प्रकट होती है। वह उस के प्रकट होते ही मन की उस में आसक्ति और एकाग्रता हो जाती है। अत्यन्त प्रेमासक्ति से जब शिथिल मन ध्येयस्वरूप को भी नहीं ग्रहण कर सकता, तब ध्येय के बिना ध्यान और ध्याता का भी अभाव हो जाता है, उस समय अनिर्देश्य, शुद्ध, अखण्ड सच्चिदानन्द का प्रकाश होता है। जो ध्याता, ध्यान एवं ध्येय का प्रकाशक था, वही इस अवसर में ध्याता, ध्यान, ध्येय के अभाव का भासक होकर व्यक्त होता है, बस यही मनोनिरोध की चरम सीमा और चरम फल है।

मन को शान्त करने के लिए उपनिषदों ने बहुत से उपाय वर्णन किये हैं। भिन्न भिन्न वस्तुओं की सत्ता से ही मन में अनेक प्रकार के विक्षेप होते हैं। अतः यह भावना करनी चाहिए कि समस्त विश्व भगवान् से ही उत्पन्न होता है, उन्हीं में उस की स्थिति और प्रलय होता है, अतः सब कुछ भगवान् का ही स्वरूप है। जैसे समुद्र से उत्पन्न तथा उसी में स्थित और विलीन होनेवाले तरङ्ग, फेन, बुद्बुद समुद्र ही हैं, मिट्टी और सुवर्ण में उत्पन्न, स्थित एवं विलीन घट, शराव तथा मुकुट,

कुण्डलादि सब कुछ मृत्तिका एवं सुवर्ण ही है, वैसे ही भगवान् में ही उत्पन्न, स्थित, विलीन होनेवाला समस्त विश्व भगवत्स्वरूप ही है। शत्रु-मित्र, उदासीन, अनुकूल-प्रतिकूल, सभी वस्तु भगवान् का ही स्वरूप है, ऐसी भावना से राग-द्वेषादि चित्त के अनेक विक्षेप शीघ्रता से मिट जाते हैं। समस्त जीव भगवान् के ही अंश हैं, सर्वभूतों में जीवरूप से भगवान् ही विराजमान हैं ऐसी भावना से ही मन में शान्ति का सञ्चार होता है। किसी का भी तिरस्कार, अपमान भगवान् का ही अपमान समझकर सर्वत्र शुद्ध बुद्धि से हिताचरण अतिशीघ्र ही मनोविक्षेप दूर कर देता है। जभी मन कामादि दोषों से विकृत हो, तभी उक्त भावना से शीघ्र मन शान्त किया जा सकता है। एक सङ्कल्प या विचार से दूसरे सङ्कल्पों का रुक जाना स्वाभाविक है। भावना में असमर्थ प्राणी को श्वास की गति रोककर बड़े वेग से किसी नाम या मन्त्र का जप करना चाहिए। मन को एक वेग में निरत कर देने से दूसरे वेग अपने आप शिथिल हो जाते हैं—

> "सुमिरत हरिहिं शापगति बाधी,
> सहज विमल मन लागि समाधी।"

अथवा दीर्घ स्वर से भगवन्नाम का उच्चारण करके मनोराज्य पर विजय प्राप्त हो सकता है। पहले-पहल हठ तथा प्रयत्न से मन के विकारों को रोकना आवश्यक है। दुःसङ्कल्प, दुर्विचारों को रोककर उत्तम विचारों एवं सङ्कल्पों का प्रवाहित करना ही मनोनिग्रह की मुख्य कुञ्जी है। निर्गुण-सगुण भगवान् के बोधक शास्त्रों के विचार से मन शान्त होता है। मन शान्त होने पर सुखेन उसे ध्येय के तत्त्व में स्थिर किया जा सकता

है। भगवान् का चरित्र, माहात्म्यमयी लीलाओं के श्रवण, कीर्तन, मनन से मन की चञ्चलता मिट जाती है, फिर ध्यान और धारणा में बड़ी सहायता मिलती है। भगवान् की माया का वर्णन और अनुमोदन करने से प्राणी की अन्तरात्मा मायामोहित नहीं होती—

"मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
श्रद्धया शृण्वतो राजन् माययात्मा न मुह्यति॥"

शुद्ध विचार के साथ साथ शुद्ध कर्मों की भी बड़ी आवश्यकता होती है। वेदान्तक्रम से प्रपञ्च की परब्रह्म परमात्मा से उत्पत्ति और उन्हीं में क्रमेण लय की भावना से चिरशान्ति मिलती है। शुद्ध, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द भगवान् से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जलादि-क्रमेण प्रपञ्चोत्पत्ति की भावना करके फिर विपरीतक्रमेण परमेश्वर में प्रपञ्च के लय की भावना करनी चाहिए। पार्थिव प्रपञ्च को केवल पृथ्वी में और उसे जल में, जल को तेज में लय करके केवल तेज का ही चिन्तन करना चाहिए। तेज को वायु में और उसे आकाश में लय करके आकाश को स्वप्रकाश, आनन्दरूप अनन्त सत् में लय कर देना चाहिए। जबतक स्थिति रह सके, तबतक केवल सत् का ही चिन्तन करना और विक्षेप होने पर पुनः सत् से आकाशादिक्रमेण सृष्टि की भावना करना चाहिए। इस तरह सृष्टि और प्रलय की भावना करने से मन शान्त हो जाता है। तात्पर्य यही कि मन को कर्त्तव्यमुक्त कर देने से वह अन्यान्य विषयों में अवश्य भटकेगा, परन्तु काम्य दे देने से उस की चञ्चलता स्वयं शान्त हो जायगी। यदि केवल मन से जप किया जाय और साक्षीरूप से मन के कर्तव्यों को देखते रहा जाय, तब भी मन शान्त

होता है। जैसे बेगारी में पकड़ा हुआ मजदूर देख रेख न करने से स्वेच्छाचारी होता है, वैसे ही मन को सावधानी से न देखने पर वह स्वेच्छाचारी हो जाता है।

जब मन को किसी मन्त्र के जप में लगा दिया जाय और मानस मन्त्र की धारा चल पड़े, तब केवल साक्षीरूप से मन के व्यापार को देखते जाना चाहिए। बस, मानस मन्त्र की धारा में दूसरी वस्तु या दृश्य न दीखना चाहिए, सावधानी से मन को अन्य विषयों की ओर न जाने देकर केवल जप में लगाना चाहिए और जिह्वा से जप न करके मन ही से जप करना चाहिए। हां, जब मन से नहीं ही बने, तब तो जिह्वा से भी जपना ही चाहिए। जिह्वा से भी जप की अद्भुत महिमा है, किन्तु यह तो मन के निरोध का एक प्रकार है। यदि चरित्रश्रवण करने से भगवान् की मनोहर मूर्ति हृदय में आ जाय, तब तो उस के सौन्दर्य, माधुर्य में मन का स्वभाव से ही आकर्षण और एकाग्रता हो जाती है। मूर्ति और चित्रपटों में भी नेत्र और मन को लगाने से मन शान्त होता है। प्रसिद्ध मन्दिरों, मूर्तियों एवं सूर्यमण्डल में भगवान् की तेजोमयी मूर्ति के ध्यान से चित्त की एकाग्रता होती है। (सिद्धान्त ६।४०४१)।

———

भगवान् की दिव्य लीला

वृन्दावन-नवयुवराज नन्दनन्दन श्यामसुन्दर ने श्रीमद्वृन्दारण्य-धाम में गोचारण के लिए प्रवेश किया। जिस परम पावन धाम में तरुलता-गुल्मादि भी वेणुच्छिद्रनिर्गत शब्दब्रह्मरूप में परिणत भगवदीय-सुधा का पानकर कुड्मल-पुष्प-स्तबकरूप रोमाञ्चोद्गम छद्म से तथा मद-धारारूप हर्षाश्रु विमोक से अपने दुरन्त भाव का व्यक्तीकरण कर रहे हैं, जिस धाम में प्रेमातिशय से प्रभुपादपद्माङ्कित व्रजभूमि गत ब्रह्मादि के वन्द्य रज के स्पर्श के लिए आज भी समस्त तरुलताएँ विनम्र हो रही हैं, उस धाम की महिमा किन शब्दों में व्यक्त की जाय! सरित्श्रेष्ठ श्री यमुनाजी के तट पर श्यामतमाल, कदम्ब आदि वृक्ष माधवी, लवङ्गादि विविध लताओं से परिवेष्टित हैं। शुभ कल्पवृक्षों के अरण्य में चतुर-चूडामणि व्रजवननवयुवराज ग्वालोंसमेत सुभिवृन्द को हरी हरी दूर्वाएँ नोच नोचकर खिलाते हैं। जिस समय गौएँ इधर-उधर बिखर जातीं, उस समय मोहन की मोहिनी मुरली बजती। नयनाभिराम घनश्याम की मोहिनी मुरलिका की मधुर ध्वनि सुनते ही गौएँ दौड़ पड़तीं और समीप आकर कन्हैया के परमकमनीय माधुर्य का अनिमीलित नयनपुटों से पान करने लगतीं। श्यामसुन्दर भी उन्हें पुचकार-पुचकारकर सहलाने लगते।

इस प्रकार मङ्गलमय दिन की कुछ घटिकाएँ बीत गयीं, ग्वाल बालोंसमेत व्रजेन्द्रनन्दन को भूख लगी। श्रीव्रजराजकुमार एक सुन्दर मणिमय चबूतरे पर ग्वालबालों समेत बैठ गये। अपनी अपनी पोटली

खोली, कमल के सुन्दर हरे हरे पत्तों पर सुन्दर मधुर-मनोहर विविध भांति के पक्वान्न, मिष्टान्न रखकर सभी लोग खाने लगे। बीच बीच में बाल-चापल्ययुक्त क्रीड़ाएँ भी होती जातीं। ग्वालबाल श्यामसुन्दर के मङ्गलमय मुखचन्द्र की सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा का पान कर रहे थे और श्रोत्र-पुटों से वेणुगीतपीयूष का, व्रजकिशोर के दिव्य वचनामृत का पान कर प्रेमविभोर हो रहे थे। भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौकुमार्य्य आदि गुणगणों ने उनका अपनापन हर लिया। किसी ग्वालबाल ने कहा—

"न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये।
प्रयान्ति मम गात्राणि श्रोत्रतां किमु नेत्रताम्॥"

प्यारे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन जब मेरे सामने आकर अपनी प्यारी बातें सुनाते हैं, तब मैं नहीं जानता कि मेरा शरीर स्वयं श्रोत्र हो जाता है या नेत्र।

इस मङ्गलमयी दिव्य क्रीड़ा को देखकर ब्रह्मा को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि यदि कृष्णचन्द्र अनन्य, अखण्ड, अव्यक्त, पूर्ण परब्रह्म के अवतार होते, तो क्या गोपबालों के साथ गँवारों जैसी इस प्रकार की क्रीड़ा करते और गोपबालों के जूठन खाते? अन्ततोगत्वा ब्रह्मा भगवान् की अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता की परीक्षा करने चले। उन्होंने बछड़ों को चुरा लिया। ढूंढने पर भी जब ग्वालबालों को अपने बछड़े नहीं मिले, तब वे घबड़ाये। भगवान् कृष्ण ने ग्वालबालों से कहा—'भैया! तुम यहीं ठहरो, मैं ढूँढ लाता हूँ।' भगवान् कृष्णचन्द्र ढूँढने चले। उस समय उनकी अमित शोभा हो रही थी। एक हाथ में माखन-मिश्री और दूसरे हाथ में मुरली

एवं भृकुटी शोभायमान् थी। भगवान् ने ब्रह्मा का सारा कौतुक जान लिया और अपने को ही बछड़ों के रूप में बना डाला। उनके लिए यह कोई असम्भव नहीं, क्योंकि भगवान् कर्त्तुं, अकर्त्तुं अन्यथा कर्त्तुं, समर्थ हैं। इधर ब्रह्मा ने ग्वालबालों को भी चुरा लिया। भगवान् ने कहा कि 'अच्छा ब्रह्मा! मैं तुम्हारी शक्ति देखता हूँ।' भगवान् ने अपने आप को ही समस्त ग्वालबालों के रूप में भी बना लिया।

श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में सन्ध्या होने आयी। काषाय वस्त्र धारण किये यतिराज भगवान् भास्कर अस्ताचल को प्रस्थान करने लगे। पक्षिवृन्द अपने-अपने घोसलों में जाने लगे, भगवान् कृष्ण ने भी ग्वालबालों एवं बछड़ों समेत घर की ओर प्रस्थान किया। उस समय गौओं के गले में पड़ी हुई सुवर्ण की घण्टियों से टन-टन की सुमधुर ध्वनि निकल रही थी। आकाश और कृष्णचन्द्र का मङ्गलमय मुखचन्द्र धेनुरेणु से धूसरित हो उठा। सभी ग्वालबाल अपने अपने घर पहुँचे। माताएँ अपने अपने बच्चों की प्रतीक्षा में खड़ी थीं। उनके स्तनों से दुग्ध स्राव हो रहा था। बच्चों को देखते ही माताओं ने उन्हें गोद में उठा लिया और लगीं स्तनपान कराने। यद्यपि ब्रजदेवियों ने अपने पुत्रों से व्यतिरिक्त भगवान् कृष्ण को नहीं समझा था, तथापि आज जैसा वात्सल्य-स्नेह उनमें कभी नहीं हुआ। अस्तु, माताओं ने बड़े प्रेम से बच्चों को खिला-पिलाकर शयन करा दिया। रात्रि बीती। सूर्योदय हुआ। माताओं ने अपने पुत्रों को जगाया। उनके मुँह हाथ धोये। स्नान कराया। सुन्दर दिव्य वस्त्राभूषणों से उनका श्रृङ्गार किया और कन्हैया के साथ गोचारण के लिए उन्हें पुनः श्रीवृन्दारण्यधाम में भेज दिया।

इधर ब्रह्मा ने समझा कि ग्वालोंसहित कृष्ण खूब परेशान होंगे। उनके मन में परेशानी देखने की उत्सुकता हुई। ब्रह्माजी आये। श्रीवृन्दारण्यधाम में देखा—वही रसिकमण्डली, वही ग्वालबाल, वही वेणुवादन और वही बछड़े। झट ब्रह्माजी कन्दरा में गये, जहाँ उन्होंने ग्वालबालों और बछड़ों को चुराकर छिपा लिया था। वहाँ उन सब को ज्यों का त्यों पाया। बाहर निकले, वही सखामण्डली, वही अनुपम दृश्य। अब ब्रह्माजी का होश ठिकाने आया। उन्हें भगवान् की अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता का ज्ञान हुआ।

ब्रह्मा ने भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणामकर कहा—'अशरणशरण, अनाथनाथ, अकारण-करुणा-वरुणालय विभो! यद्यपि मैंने आप की कौतुकपूर्ण लीला में विघ्न डालकर, आप के बछड़ों और ग्वालबालों का हरण करके बड़ा ही अपराध किया, तथापि प्रभो! जैसे अम्बा गर्भगत शिशु के पैर फटकारने को अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप मेरे इन कर्मों पर ध्यान न दें। प्रभो! सम्पूर्ण विश्व ही आप के उदर में है, फिर गर्भगत शिशु के समान ही प्राणियों के अपराधों को क्षमा करना क्या उचित नहीं है—

"उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥"

प्रभु ने क्षमा कर दी।

कृपालु भगवान् ने प्राणि कल्याणार्थ सरल से सरल उपाय शास्त्रों द्वारा बतला रखे हैं। पत्र-पुष्प-फल-जल-नमस्कार से ही प्रभु प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो, तो केवल मन से ही पूजन-स्मरण और वह भी

न बने तो भाव-कुभाव जिस किसी भी तरह भगवान् के नाम के सङ्कीर्तन या जप से ही परमगति प्राप्त हो सकती है। भगवान् का मङ्गलमय नाम अति ही सुगम है। जिह्वा अपने वश की है, फिर भी लोग नरक में जाते हैं यही बड़ा आश्चर्य है—

"सुगमं भगवन्नाम जिह्वा स्ववशवर्तिनी।
तथापि नरकं यान्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥"

अस्तु, निःसङ्कोच और निर्भय होकर भगवान् का सङ्कीर्तन और भगवन्नाम जप किया जाय, तो सहज ही में प्रभु अनन्तानन्त जन्मों के अपराधों को भूल जायेंगे और उन्हें अपनी करुणापरवशता के कारण प्रसन्न होना ही पड़ेगा। पर याद रहे, भगवन्नामसङ्कीर्तन अथवा जप के साथ साथ स्वधर्मानुष्ठान एवं पापपरिवर्जन की बड़ी आवश्यकता है। अन्यथा जैसे कुपथ्य-सेवन से उत्तमोत्तम औषधियाँ—वसन्तमालती, चन्द्रोदय, मृगाङ्क आदि—अकिञ्चित्कर ठहरती हैं, वैसे ही स्वधर्मत्याग से पापाचार और दुराचार से भगवन्नाम का अमित प्रताप भी अकिञ्चित्कर हो जाता है। इसलिए असत्कर्मों से बचकर स्वधर्मानुष्ठान की बड़ी आवश्यकता है। इस प्रकार ईश्वरपरायणता और स्वधर्मानुष्ठान से विश्व सुख-शान्ति प्राप्तकर निःश्रेयस का भागी बन सकता है।